भारतीय संस्कृति का इतिहास

लेखक

श्री स्कन्दकुमार एम० ए०

निर्देशक

डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली - बनारस - पटना

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

पो० ब० ७५ बनारस

सन् १९५५

मूल्य ३)

दो शब्द

भारतीय संस्कृति का इतिहास जीवन के विविध क्षेत्रों में भारतीय दृष्टिकोण और यहाँ के लोगों की कर्मसिद्धि को सरलता से समझने का एक प्रयत्न है। भारतीय संस्कृति का मूलबीज वेदों में माना जाता है। यह सच है। पर उसी बीज से भारतीय संस्कृति का महान् वट-वृक्ष उत्पन्न हुआ है। इस संस्कृति ने विकास की धारा में कितने नए तत्वों को ग्रहण किया जिसका उल्लेख स्थान-स्थान पर इस पुस्तक में किया गया है। भारतीय संस्कृति और हिन्दूधर्म एक दूसरे के पर्याय हैं। जैसे वट का बीज आगे आनेवाले तने, शाखा और पत्तों को अपना करके मानता है वैसे ही अनेक तत्वों को मिलाकर हिन्दूधर्म के रूप में भारतीय संस्कृति का जो विकास हुआ उन सबका सम्बन्ध इस भूमि की मूल-भूत संस्कृति से है। जीवन की जितनी संस्थाएँ और जितने रूप हैं सबके समुदाय को संस्कृति कहते हैं। विश्व में जितनी संस्कृतियाँ हैं उन सब में देश और काल में अपरिमित विस्तार की दृष्टि से भारतीय संस्कृति बहुत ही महत्व पूर्ण है। इस पुस्तक में बहुधा नए दृष्टिकोण से विचार किया गया है और ऐसे तथ्यों का उपयोग किया गया है जो प्रायः इस प्रकार की पुस्तकों में नहीं मिलते। विषयविवेचन और भाषा-शैली दोनों को ही यथाशक्ति स्पष्ट और सरल रखने का प्रयत्न किया गया है। विद्यार्थियों के लिए तो यह पुस्तक उप-योगी होगी ही आशा है और पाठकों को भी इससे लाभ पहुँचेगा।

आयुष्मान् स्कन्दकुमार की इस कृति की सफलता के लिए मेरी शुभ कामना है।

काशी विश्वविद्यालय — वासुदेव शरण अग्रवाल

११-१०-१९५५

विषय-सूची

अध्याय १

वैदिक साहित्य तथा सभ्यता

वैदिक साहित्य—परिचय : भारतीय वाङ्मय का सबसे प्राचीन अंश वैदिक साहित्य है। चार वेद, उनके ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् तथा छः वेदांग इस साहित्य के मुख्य अंग हैं। वेद इनमें सर्व प्रमुख हैं। वस्तुतः वेद वह मूल है जहां से भारतीय संस्कृति एवं मानस चेतना का विशाल वट वृक्ष प्रस्फुटित हुआ तथा अपने महान विस्तार को प्राप्त हुआ।

वेद का अर्थ—वेद का शाब्दिक अर्थ ज्ञान है। भारतीय परम्परा के अनुसार ईश्वरीय प्रेरणा से जो ज्ञान ऋषियों के मानस में उदय हुआ एवं उन ऋषियों ने अपने तप तथा ध्यान के बल से जिसका साक्षात्कार किया वही वेद है। मंत्रों के रूप में वही संसार के सामने अभिव्यक्त हुआ। प्रत्येक ऋषि उन मंत्रों का द्रष्टा था जिनका उसने साक्षात्कार किया था। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार वह ऋषि उन मंत्रों का प्रणेता अथवा कवि है जिनके साथ उसका नाम संलग्न है।

वेद की काव्यमय कृति को ऋक् कहते हैं। गेयपद का नाम साम तथा गद्य भाग के संदर्भों का नाम यजुष् है। साथ ही नाराशंसी गान,

जीवन सम्बन्धी कविताएं तथा उच्चतम दार्शनिक चिन्तन भी वैदिक मंत्रों के विषय हैं।

वेदों का संकलन—वैदिक मंत्र ऋषियों के पुत्रों एवं शिष्यों की कुल परम्परा में सुरक्षित होते रहे। ब्रह्मचारी शिष्य अपने आचार्यों तथा अन्य पूज्य लोगों से सुन सुन कर वैदिक मंत्रों का अध्ययन तथा ग्रहण करते थे। इसीलिए वेद का नाम 'श्रुति' अर्थात् 'सुनी हुई बात' भी है। इन ऋषिकुलों या वैदिक विद्यागृहों के कार्य के परिणाम-स्वरूप मंत्रों की प्रभूत सामग्री विशाल राष्ट्रीय काव्य-संग्रह के रूप में एकत्र हो गई। इस विशाल सामग्री में से जो तरल मंत्र समुदाय के रूप में थी ऋग्वेद संहिता का जन्म हुआ एवं समयानुसार साम, यजु तथा अथर्व अन्य तीन संहिताएं भी अपने रूप में आईं। भारतीय परम्परा में इस कार्य का श्रेय वेदव्यास को दिया जाता है।

विकास—इस प्रकार वैदिक साहित्य के विकास की चार अवस्थाएं हैं—(१) प्रारंभिक मंत्रों का उदय, (२) ऋषिकुलों तथा विद्यागृहों में नवीन रचना द्वारा मंत्रों का बाहुल्य, (३) ऋग्वेद संहिता का संकलन, एवं (४) अन्य तीन संहिताओं साम, यजु तथा अथर्व का निजी रूप में आना।

ऋग्वेद—ऋग्वेद के सूक्तों का चुनाव तथा क्रम जिन सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है और जिन उपायों से मंत्रों के पाठ को सुरक्षित रखा गया है वे मौलिक तथा श्रेष्ठ साहित्यिक एवं शिक्षा संबंधी कुशलता के परिचायक हैं। ऋग्वेद में दस मंडल हैं। प्रथम मंडल में कुछ फुटकर तथा कई ऋषिकुलों के सूक्त हैं। दूसरे मंडल के ऋषि गृत्समद, तीसरे के विश्वामित्र, चौथे के वामदेव, पांचवें के अत्रि, छठे के भरद्वाज तथा सातवें मंडल के ऋषि वशिष्ठ हैं। आठवें मंडल में कण्व ऋषि के कुल के सूक्त हैं। नवम मंडल में सोम सम्बन्धी

सब सूक्तों का संकलन है। दशम मंडल में संग्रह रूप में १९१ सूक्त हैं। इनकी भाषा, छन्द और विषय की दृष्टि से अपनी विशेषता है तथा इनमें दार्शनिक सूक्त और विवाह, अन्त्येष्टि आदि फुटकर विषयों के मंत्र भी हैं। कुल मिलाकर ऋग्वेद में 1017 सूक्त हैं। मंत्रों की संख्या १०६०० है। यज्ञ में ऋग्वेद का पाठ करनेवाला 'होता' कहलाता है।

यजुर्वेद—यजुर्वेद का विभाग मंडलों में न होकर अध्यायों में है। उसमें ४० अध्याय हैं। यजुर्वेद की मुख्यतः दो शाखाएँ हैं—(१) शुक्ल यजुर्वेद तथा (२) कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल में केवल मंत्र हैं जो कि छन्दोबद्ध एवं गद्यरूप में भी हैं। कृष्ण यजुर्वेद में मंत्र तथा ब्राह्मण भाग मिश्रित हैं। कुल मिलाकर यजुर्वेद में १९६० मंत्र हैं। यजुर्वेद में प्रधानतः यज्ञ-विषयक मंत्र तथा प्रार्थनाएं हैं। यज्ञ में यजुर्वेद का पाठ करनेवाला ऋत्विक् 'अध्वर्यु' कहलाता है।

सामवेद—सामवेद के पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक दो भाग हैं, एवं तीन शाखाएं हैं—कौथुमीय, जैमिनीय और राणायनीय। इनमें राणायनीय प्रमुख है। सामवेद की गान पद्धतियाँ इस प्रकार हैं—पूर्वार्चिक की (१) ग्रामगेय गान, और (२) अरण्यगान; उत्तरार्चिक की (१) ऊहगान, और (२) ऊह्यगान।

सामवेद के मंत्रों की संख्या १६४९ है। केवल ७८ मंत्र नये हैं, अन्यथा सब ऋग्वेद से ही लिये गए हैं। इस संबंध में कहा गया है—'तृचि अध्यूढं साम गीयते' अर्थात् तीन ऋचाओं के काल के बराबर साम या गान बन जाता है। इस प्रकार एक साम के गान में तीन ऋचाओं के बराबर समय लगता है। गेय ऋचाओं को ही जब गाया जाय वह साम है। यज्ञ में साम—गान करनेवाले ऋत्विक् को 'उद्गाता' कहते हैं।

अथर्ववेद—अथर्ववेद में कुछ मंत्र ऋग्वेद के हैं, किन्तु अधिकांश सामग्री नई है। इसके विषय हैं—दार्शनिक तत्वचिंतन, प्राणविद्या, ब्रह्मचर्य, ओषधि-वनस्पति विज्ञान, राष्ट्र तथा पृथिवी संबंधी विचार, एवं तंत्र-मंत्र सम्बन्धी अनेक प्रकार के जन-विश्वास।

अथर्ववेद की दो शाखाएं हैं—शौनक तथा पैप्पलाद। सब मिलाकर ७४१ सूक्त हैं जिनमें ५८३६ मंत्र हैं। ये सब बीस कांडों में बँटे हुए हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ—वैदिक संहिताओं के अनन्तर मुख्य साहित्य ब्राह्मण ग्रंथ हैं। ब्रह्म अर्थात् वेद में प्रतिपादित विषयों पर व्याख्यात्मक मौलिक चिन्तन एवं यज्ञीय कर्मकांड का विचार, यही ब्राह्मण ग्रंथ है। ये विचार मुख्यत: चार प्रकार के हैं—अधिदैव या देवता परक, (२) अधिभूत या सृष्टि विषयक, (३) अध्यात्म या मानव शरीर सम्बन्धी तथा (४) अधियज्ञ अर्थात् ऊपर की तीनों प्रक्रियाओं की यज्ञीय कर्मकांड के अनुसार व्याख्या।

इन चारों प्रकार के दृष्टिकोणों के प्रतिपादन के प्रसंग में ब्राह्मणों में अनेक उपाख्यान एवं इतिहास भी कहे गए हैं जिन्हें अर्थवाद कहते हैं। जितना अंश ठेठ यज्ञ से सम्बन्ध रखता है उसे विधिभाग कहते हैं। वेदों के सम्बन्धित प्रमुख ब्राह्मण इस प्रकार हैं—

ऋग्वेद—१. ऐतरेय ब्राह्मण तथा २. कौषीतकी ब्राह्मण जिसका नाम शांखायन भी है।

यजुर्वेद—शुक्ल यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण है। इसमें सौ अध्याय हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड के अतिरिक्त इसमें अनेक उपाख्यान तथा सामाजिक विषय हैं। कृष्ण यजुर्वेद का ब्राह्मण तैत्तिरीय कहलाता है।

सामवेद—१. ताण्डय, २. षड्विंश, ३. अद्भुत तथा ४. जैमिनीय। इनमें ताण्डय प्रमुख है। इसमें पच्चीस अध्याय हैं इसलिये यह पंचविंश भी कहलाता है।

अथर्ववेद—इस वेद का एक ही ब्राह्मण गोपथ ब्राह्मण है।

आरण्यक—ब्राह्मणों के अन्तिम भाग ही आरण्यक हैं। आरण्यक का अर्थ है—वह जिसका निर्माण अरण्य या ऋषियों के तपोवनों में हुआ। आरण्यकों में अध्यात्म चिन्तन या दार्शनिक दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। इनमें आत्मा और ब्रह्म सम्बन्धी उत्कृष्ट विचार हैं।

उपनिषद्— उपनिषद् वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग हैं। इसी कारण उन्हें वेदान्त भी कहा जाता है। यदि शाब्दिक अर्थ ग्रहण किया जाए तो भी वे वेदों के अन्तिम अंश हैं, जैसे ईश उपनिषद् जो शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ या अन्तिम अध्याय है।

जिस प्रकार ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड की प्रधानता है, उसी प्रकार उपनिषदों में ज्ञानकाण्ड ही सब कुछ है। उपनिषदों में ज्ञान की सबसे ऊँची स्थिति में ब्रह्म, विश्व और मानव सम्बन्धी चिन्तन हैं।

मुख्य प्राचीन उपनिषद् ११ हैं:—१. ईश, २. केन, ३. कठ, ४. प्रश्न, ५. मुण्डक, ६. माण्डूक्य, ७. तैत्तिरीय, ८. ऐतरेय, ९. छान्दोग्य, १०. बृहदारण्यक, और ११. श्वेताश्वतर।

उपनिषद् भारतीय अध्यात्म चिन्तन के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं। इनकी सामग्री भारतीय दर्शन के विकास की पृष्ठभूमि रही है। कुछ विदेशी विचारकों के मत में भी 'आत्मचिन्तन की, जो ऊँचाई उपनिषदों में मिलती है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलती।'

यह मूल वैदिक साहित्य है। इसके साथ वेदों के अध्ययन में उपयोगी छह और सहायक विद्याएँ हैं, जिन्हें वेदाङ्ग कहते हैं। ये इस

प्रकार हैं—१. शिक्षा, २ छन्द, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. ज्योतिष, और ६. कल्प।

१ **शिक्षा**—वेदों के उच्चारण सम्बन्धी नियम शिक्षा ग्रंथों का विषय है। विश्व में ध्वनि-शास्त्र की सर्वप्रथम वैज्ञानिक विवेचना करनेवाले शिक्षा ग्रन्थ ही हैं।

२ **छन्द**—वेद के मन्त्र, गायत्री, त्रिष्टुभ् , जगती आदि विभिन्न छन्दों में रचे गए हैं। इनके नियमों की व्याख्या वैदिक छन्द शास्त्र का विषय है। पिंगल मुनि कृत छन्द सूत्र इसका मुख्य ग्रंथ है जिसमें वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का विवेचन है।

३ **व्याकरण**—इसका मुख्य विषय भाषा सम्बन्धी सब प्रकार के नियम हैं। प्राचीन भारतवर्ष में इस शास्त्र की बहुत अधिक उन्नति हुई थी। पाणिनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है जिसमें वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार की भाषा के नियम दिये गए हैं। संसार के किसी भी देश में पाणिनि के व्याकरण जैसा परिपूर्ण और संक्षिप्त ग्रंथ नहीं बना। इसमें चार हजार सूत्रों में सब संज्ञा शब्द और धातुओं का पूरा विचार किया गया है।

इसके सिवाय प्रातिशाख्य हैं जिनमें स्वर, छन्द एवं व्याकरण तीनों विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है। ये चार मिलते हैं—ऋक् प्रातिशाख्य, अथर्व प्रातिशाख्य, वाजसनेयी या शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य।

४ **निरुक्त**—वैदिक शब्द समूह का नाम निघंटु है। निघंटु के शब्दों की व्युत्पत्ति तथा व्याख्या निरुक्त का प्रतिपाद्य विषय है। केवल यास्क मुनि का निरुक्त ही मिलता है।

५ **ज्योतिष**—यज्ञों तथा अन्य शुभ कार्यों के लिए विशेष काल

तथा विशेष मुहूर्त का निर्धारण और नियमन ही ज्योतिष का प्रतिपाद्य विषय था। इसके अनेक ग्रंथ बने जिनमें कुछ उपलब्ध हैं। इनमें वेदांग ज्योतिष का नाम उल्लेखनीय है।

६ कल्प—यज्ञों की व्यवस्था, गार्हस्थ्य जीवन तथा सामाजिक जीवन को नियमन करना ही कल्प ग्रन्थों का विषय है। इनके दो प्रमुख भेद हैं—१. श्रौतसूत्र एवं २. स्मार्तसूत्र।

१ श्रौतसूत्र—इन ग्रन्थों में तीनों अग्नियों यथा आहवनीय गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि के अधीन अग्निहोत्र की व्यवस्था की गयी है। इनमें इन अग्नियों के आधान, अग्निहोत्र, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य आदि हविर्यज्ञों तथा अग्निष्टोम, सत्र आदि सोमयज्ञों का वर्णन है। वेदों के विभिन्न श्रौतसूत्र प्राप्त होते हैं।

२. स्मार्तसूत्रों के दो विभेद हैं—(क) गृह्यसूत्र, तथा (ख) धर्मसूत्र।

(क) गृह्यसूत्र—इनमें गृहस्थों के आचार तथा विभिन्न संस्कारों का वर्णन है। गृह्यसूत्रों में प्राचीन भारतीय गृहस्थों के आचार-विचार तथा देश के विभिन्न भागों के रीति रिवाजों का अच्छा परिचय मिलता है। वेदों के विभिन्न गृह्यसूत्र मिलते हैं जिनमें आश्वलायन और गोभिल गृह्यसूत्र सबसे प्राचीन हैं।

(ख) धर्मसूत्र—इन ग्रन्थों में सामाजिक जीवन की विस्तृत विवेचना मिलती है। धर्म को विवेचना, वर्णाश्रम व्यवस्था, राजा और प्रजा के कर्तव्य, विवाह के भेद, दाय भाग की व्यवस्था, भोजन सम्बन्धी आचार, शुद्धि, प्रायश्चित्त, न्यायालय के व्यवहार और तप आदि धर्मसूत्रों के प्रतिपाद्य विषय हैं। वशिष्ठ, गौतम, आपस्तम्ब के धर्मसूत्र, ये तीन ही उपलब्ध हैं।

धर्मसूत्रों के ही आधार पर उत्तरकाल में स्मृतियों का निर्माण हुआ।

इसके सिवा शुल्वसूत्र मिलते हैं। इन सूत्रों में यज्ञ की वेदियों को नापना, उपयुक्त स्थान का चुनाव तथा उनकी निर्माण विधि का विवेचन है। एक प्रकार से ये श्रौतसूत्रों के ही भाग हैं।

उपर्युक्त ये सब ग्रंथ वेदों के उपरान्त विभिन्न समय पर रचे गए। फिर भी इतना तो निश्चय है कि ईसवी पूर्व पाँचवीं या छठी शताब्दी तक इनका रूप स्थिर हो चुका था।

वैदिक कालीन सभ्यता

वैदिक काल का निर्णय—भारतीय सांस्कृतिक चेतना वेदों से शुरू होती है। वेदों में सबसे प्रमुख ऋग्वेद है। विभिन्न मतभेदों के होते हुए भी यह तो निश्चित है कि ऋग्वेद आर्य जाति की सबसे पहली पुस्तक है। ऋग्वेद में गंभीर चिंतन और सभ्यता का बहुत ऊँचा स्तर हमें मिलता है। उस काल के आर्यों के जीवन का जो रूप वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है, वह किसी भी देश के लिए गौरव की वस्तु है।

अभाग्यवश हमें अभी तक भारतवर्ष में अपनी इस थाती के प्रमाण प्राचीन अवशेषों के रूप में नहीं मिले हैं। पश्चिम एशिया में आधुनिक तुर्की के बोगज़कुई नामक स्थान पर १४०० ई० पू० के कुछ अभिलेख मिले हैं। इसमें वहाँ की खत्ती (हित्ताइत) और मितन्नी जातियों के बीच की एक सन्धि का वर्णन है। इसमें वैदिक देवता मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्य का उल्लेख है। यहाँ से ही आचार्य किक्कुलि का लिखा हुआ एक अश्व विद्या का ग्रन्थ मिला है जिसमें घोड़ों को सिखाने तथा रथ की चाल के लिए एकावर्तन, द्व्यावर्तन जैसे संस्कृत पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है। एक अन्य स्थान तल-अल-अमर्ना से मितन्नी राजाओं के बहुत से नाम मिले हैं जो मूलतः

संस्कृत के हैं। बेबीलोनिया से कस्सी राजाओं की जो सूची (१७८०-१७४६ ई० पू०) मिली है उसमें भी दुशरत्त या दशरथ जैसे संस्कृत नाम आये हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि बेबीलोनिया से जो कि पूर्व में है संस्कृत के उल्लेख पहले युग के हैं। संभवतः आर्यों की कुछ शाखाएँ पश्चिम की ओर बढ़ते हुए अपने चिन्ह मार्ग में छोड़ गई थीं। वैदिक सभ्यता इस तरह कम से कम २५०० ई० पू० में भारतवर्ष में अपना रूप निश्चित कर चुकी थी। छठी शताब्दी आते-आते तो वैदिक संहिताओं का युग, ब्राह्मणों का समय तथा प्रमुख उपनिषदों का काल ही नहीं सूत्रयुग भी अधिकांश में समाप्त हो चुका था।

वैदिक आर्यों का देश—वैदिक आर्य अवश्य ही एक विशाल भूभाग के निवासी थे। इसका आभास ऋग्वेद में आए नदी नामों से होता है। ऋग्वेद में पश्चिम की ओर कुभा (काबुल), क्रुमु (कुर्रम), गोमती (गोमल) और सुवास्तु (स्वात), पंजाब की सिन्धु, वितस्ता (झेलम), असिक्नी (चेनाब), परुष्णी (रावी), विपाशा (व्यास), शुतुद्रि (सतलज) और पूर्व की ओर सरस्वती, दृषद्वती, यमुना और गंगा के नाम आए हैं। इन नदियों से सींचे जानेवाले प्रदेशों में आर्यों के बहुत से जन या कबीले निवास करते थे। आर्यों के इस विस्तार का केन्द्र सरस्वती, दृषद्वती, यमुना आदि से आसेवित ब्रह्मावर्त प्रदेश था। इसी प्रदेश में आर्यों के प्रारम्भिक और सबसे महत्त्व के साहित्य की रचना हुई।

सामाजिक संगठन—कुल या परिवार भारतीय समाज की उस समय भी सबसे छोटी इकाई थी। कुल का मुखिया सबसे वृद्ध पुरुष होता था। अपने पुत्र, पौत्रों तथा भाई-बन्धुओं से घिरा हुआ वह अपने कुल की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था करता था।

ग्राम—कई कुल साथ मिलकर ग्राम में रहते थे। ग्राम का मुखिया ग्रामणी कहलाता था।

विश्—बहुत से ग्रामों का समूह विश् (कबीला) कहा जाता था। विश् का प्रधान विश्पति और यदि विश् बड़ा हुआ तो राजा कहलाता था।

जन—कई विश् या कबीले साथ मिलकर जन बनाते थे। जन के बसाए हुए भूभाग को जनपद कहते थे। जन का नेता राजा होता था। राजा जनों के संबंधों, युद्ध तथा जन के हित के कार्यों में नेतृत्व ग्रहण करता था। देश या राज्य के लिए राष्ट्र शब्द का प्रयोग प्रायः आया है।

समाज के प्रत्येक व्यक्ति का भली प्रकार से विकास हो इसकी भी व्यवस्था थी। प्रत्येक आर्य के कुछ संस्कार होते थे जिनकी व्यवस्था जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तक की जाती थी। इनमें मुख्य संस्कार ये थे—नामकरण, विद्यारंभ और यज्ञोपवीत, विवाह तथा अन्त्येष्टि। गर्भाधान भी संस्कार माना जाता था, जिसका महत्व इस बात में था कि गृहस्थ धर्म का पालन सन्तानोत्पत्ति के वास्ते ही था।

आश्रम—जीवन क्रम को नियम के साँचे में ढालने के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों का विधान था। इन आश्रमों के पालन की प्रथा आर्यों में सर्वमान्य थी। परन्तु कभी-कभी परिवर्तन भी होते रहते थे।

वर्ण व्यवस्था—आर्यों में जाति तथा वर्ण व्यवस्था थी। गुण, कर्म तथा संस्कारों के अनुसार चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र थे। जन्म के अनुसार मनुष्य श्रेष्ठ माना जा सकता था, पर वह यदि अपने कर्मों को छोड़ दे और चरित्र भ्रष्ट हो जाय तो ब्राह्मण भी शूद्र से हीन हो जाता था। चरित्रवान् तथा गुणी शूद्र भी सम्मान का भागी होता था।

राज्य और उनका संगठन—भारतवर्ष में आर्यों के राज्यों का

क्रमिक विकास भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भ में आर्य छोटे जनों में बँटे हुए थे। वे अपने नेता के अधीन अपना विस्तार, युद्ध और सन्धि एवं समृद्धि के लिए प्रयत्न करते थे। धीरे धीरे कुछ जनों के नेता राजा कहलाए एवं राजवंशों की स्थापना हुई। राजा इस स्थिति में उच्छृङ्खल शासक नहीं था। प्रजा-पीड़क और जन के नियमों का पालन न करनेवाला राजा नष्ट हो जाता था। बहुत से जन इस समय भी गणों के रूप में संगठित थे। इनमें यदु, पुरु, द्रुह्यु, तुर्वशु, अनु आदि थे।

आगे चलकर महत्वाकांक्षी राजा अपने राज्यों को फैलाने के लिए दूसरे जनपदों पर आक्रमण करने लगे। सत्ता के लिए होनेवाली इस कशमकश में कुछ वीर राजा बड़े राजनीतिक समूहों के प्रधान अथवा सम्राट् बन जाते थे। ऋग्वेद काल के दस राजाओं के युद्ध में विजयी होनेवाले राजा सुदास ऐसे ही सम्राट थे।

राजा का अभिषेक किया जाता था। अभिषिक्त राजा में प्रमुख देवताओं के दैवी अंश की भावना की जाती थी। राजा ही अपने जन का रक्षक और शत्रुओं का नाश करनेवाला होता था। वस्तुतः आर्य जनों की बिखरी हुई शक्ति को एक करनेवाली राज्यसत्ता ही थी। राज्यसत्ता को स्थिर करने के लिए प्रजा कर देती थी। राजा ही प्रधान धर्माध्यक्ष और प्रधान न्यायाधीश होता था। राजा के सहयोग के लिए पुरोहित, सेनानी, ग्रामणी और अन्य अधिकारी होते थे। राजा को सलाह देने तथा उसकी एकछत्र सत्ता पर नियंत्रण रखने के लिए प्रजा की सभा एवं समिति नामक संस्थाएँ होती थीं।

धर्म—जिस प्रकार से वैदिक लोक जीवन सरल था, धार्मिक जीवन उसके विपरीत बहुत जटिल था। वैदिक कालीन धर्म बहु-देवता वाद और जटिल कर्मकांड पर आधारित यज्ञों पर निर्भर था।

वैदिक देवता बहुत से थे। उनमें प्रकृति की शक्तियों तथा कार्यों के द्योतक देवता प्रमुख थे।। द्यौः (आकाश) तथा पृथ्वी भी देवों में थे। वरुण, इन्द्र, सूर्य, रुद्र, दो अश्विनी कुमार, मरुत, वायु, पर्जन्य, उषा, इत्यादि अन्य देव देवियों की पूजा होती थी। इनमें वरुण, इन्द्र, और सूर्य को मान्यता सबसे अधिक थी। प्रात.काल की अधिष्ठात्री देवी उषा के ऊपर तो वैदिक युग की सर्वश्रेष्ठ काव्य रचना हुई। गृहस्थ जीवन के भी कुछ देवता थे। इनमें अग्नि तथा सोम की मान्यता सबसे अधिक थी। सोम अमृत तत्त्व का परिचायक कहा जाता है। सोम को चन्द्रमा भी कहा गया है, जिस स्थिति में सोम सब वनस्पतियों में प्राण तथा गुणों की स्थापना करने वाला है। श्रद्धा और मनु भी देवता हैं। कुछ छोटे देवता ऋभु, अप्सराएँ इत्यादि भी थे।

इन देवताओं की पूजा और स्तुति की जाती थी। बहुत से निर्दिष्ट यज्ञों द्वारा उन्हें प्रसन्न करके उनसे वरदान एवं प्रसाद की अभिलाषा की जाती थी। यज्ञों में मंत्रों के साथ दूध, अन्न, घी, सोम की आहुति दी जाती थी। आर्यों का सबसे प्रिय सोम यज्ञ था।

यज्ञीय कर्मकांड बहुत नियमबद्ध तथा विशाल बन गया था। विभिन्न समारोहों के अधिष्ठाता ऋत्विज लोग अपने यजमान के लिए यज्ञ कराते थे। मंत्र पाठ के लिए होता, कर्मकाण्ड के नियामक अध्वर्यु और सामगान के लिए उद्गाता होते थे। इनके बहुत से सहयोगी होते थे। कुछ यज्ञ बहुत खर्चीले थे जिनका किया जाना केवल राजाओं तथा धनियों के लिए ही संभव था।

वैदिक काल का यज्ञीय कर्मकांड स्वतन्त्र चिंतन और गंभीर दर्शन के रास्ते में रुकावट नहीं था। दार्शनिक एवं ब्रह्मज्ञानी बहु देवता पूजन से ऊपर उठकर सृष्टि के गूढ़ तत्वों पर गंभीर विचार करते थे।

भारतीयों की आन्वीक्षिकी विद्या या तत्वज्ञान दर्शन (मेटाफिजिक्स) और धर्मनीति (एथिक्स) का मूल स्रोत यह युग ही है। दार्शनिक विवेचन का जो ऊँचा स्तर सुलझे हुए रूप में हमें इस समय मिलता है उससे ऊपर उठकर संसार में कभी विचार नहीं हुआ। उपनिषदों के लिये यह बात विशेषतः सत्य है। अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि जैसे अनुभव वाक्य वहीं मिलते हैं। संस्कृति के उषःकाल की यह देन बड़े गौरव की वस्तु है।

मृत्यु के अनन्तर जीवन में और आत्मा की अमरता में वैदिक आर्यों का विश्वास था।

बहुत से यज्ञ राजा की सत्ता को दृढ़ करने के लिए और राज्य-विस्तार के लिए होते थे। इनमें राजसूय और अश्वमेध मुख्य हैं।

शिक्षा—इस काल में शिक्षा का ध्येय मानसिक और शारीरिक उन्नति पर ध्यान देना तथा मनुष्य का भलीभाँति विकास करना था। विद्यारम्भ के बाद अन्तेवासी या विद्यार्थी आचार्य के आश्रम में रहता था और विद्याओं का अध्ययन करता था। वह आचार्य के यहाँ ब्रह्मचर्य एवं कठोर संयम में रहता था।

वैदिक युग की शिक्षा संस्थाओं में चरण या वैदिक महाविद्यालयों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। चरण में जो साधारणतया अपने व्यवस्थापक आचार्य के नाम से प्रसिद्ध होते थे विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए भरती होते थे। वस्तुतः जितना भी वैदिक साहित्य है उसका और उससे प्रेरित अन्य विचारधाराओं का भी विकास वस्तुतः चरणों में ही हुआ था।

शिक्षा प्रधानतया मौखिक होती थी। विद्यार्थी अपने आचार्य से विद्याओं को सुनकर ग्रहण करता था। शुद्ध उच्चारण और उत्तम प्रवचन पर बहुत ध्यान दिया जाता था।

उस शिक्षा के लिए सबसे आवश्यक वस्तु तप था। विप्र, मनीषी, ब्रह्मज्ञानी, ऋषि इत्यादि विद्वानों की विशिष्ट श्रेणी में तप द्वारा ही पहुँचा जा सकता था। तप के द्वारा ही उस महान ज्ञान को पाया जाता था जो दैविक सम्पत्ति के बराबर होता था।

शिक्षा के विषय—वेदों का भलीभाँति ज्ञान, उनका शुद्ध सस्वर पाठ, ब्राह्मण ग्रंथों का यज्ञीय कर्मकाण्ड, उन यज्ञों का आध्यात्मिक महत्त्व और सृष्टितत्त्व एवं ब्रह्मज्ञान, उपवेद, वेदान्त आदिविद्याएँ पाठ्य विषय थीं।

लोकजीवन—उस काल में रहन सहन सादा पर सुव्यवस्थित था। राजा तथा धनी लोग वैभव और विलासपूर्ण जीवन बिताते थे। तब भी जीवन का आदर्श उच्च विचार पर सादा जीवन में ही था।

वेशभूषा—पहरावे में उत्तरीय और धोती (अधोवस्त्र या नीवि) होते थे। ऊनी वस्त्र प्रायः प्रयोग में आते थे, परन्तु सूती, रेशमी और क्षौम वस्त्रों का भी काफी उल्लेख है। सूई कारी और कसीदे (पेशस्) का काम भी होता था। जरी अथवा किमख्वाब का भी उल्लेख है। ऋषि तथा वनवासी लोग हिरन व्याघ्र आदि की खालें पहनते थे। जूते का भी प्रयोग होता था। भारतीय वेषभूषा का सबसे आवश्यक अंग उष्णीष या पगड़ी थी।

आभूषण और शृंगार—आर्य लोग शरीर को स्वच्छ रखने और सजाने के शौकीन थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही तरह तरह के आभूषण पहनते थे। मणियाँ और रत्न पहनने का भी रिवाज था। कीमती पत्थरों को काट तराश कर और बींध कर माला और हारों के मनके बनाए जाते थे। बालों को भी तरह तरह से सँवारा जाता था। लोग दाढ़ी मूछ भी शौकिया रखते थे, पर साधारण रूप से दाढ़ी साफ रखने का रिवाज था।

खानपान—आर्यों के भोजन में गोरस का महत्व सबसे अधिक था। दूध, दही, घी इत्यादि उनके प्रिय भोजन थे। चावल की खीर भी बनाई जाती थी। पनीर भी पसंद किया जाता था। पकवानों का भी रिवाज था। मंदी मंदी आँच पर सिके हुए घी के पूओं का ऋग्वेद में उल्लेख है। सत्तू भी खाया जाता था। मांस का शौक था। पर यज्ञीय पशुओं का मांस खाना ही उचित समझा जाता था। मदिरा या सुरा भी पी जाती थी।

सोम—आर्यों का प्रिय पेय सोम था। सोम का यज्ञ में विधान था। सोमवल्ली से बड़ी विधिपूर्वक सोमरस तैयार किया जाता था। यज्ञ में सोम पीने का अधिकार गौरव की वस्तु मानी जाती थी। सोम क्या था, यह अभी निश्चित नहीं है। पर निश्चित रूप से सोम मदिरा नहीं थी। सोम आनन्द देनेवाला और पुष्टिदायक कोई ओषधि-रस था। सोमवल्ली मूजवन्त पर्वत के प्रदेश में मिलती थी। सोम की प्रशंसा में वेदों के कुछ बहुत उत्तम सूक्त कहे गए हैं।

युद्ध—आर्य युद्ध के प्रेमी थे। किसी आर्य के लिए अस्त्र युद्ध की तथा द्यूत की चुनौती स्वीकार न करना असंभव था।

सेनाओं में जिन्हें पृतना कहते थे पैदल तथा रथियों का उल्लेख है। संभवतः घुड़सवार सैनिक भी होते थे। आर्य घोड़े का उपयोग करनेवाले संसार में सबसे पहले थे और वे अच्छे घुड़सवार भी थे।

शस्त्रास्त्रों में धनुष बाण अधिक प्रचलित था। अन्य हथियार असि (तलवार), सृक्ति (भाला) सृक् (बल्लम) आदि थे। दिद्यु, अद्रि, अशनि आदि फेंककर मारे जाते थे। शरीर रक्षा के लिए वर्म या कवच होता था जो धातु का बनता था। दस्ताने भी पहने जाते

थे। सिर को बचाने के लिए लोहे या ताँबे या कभी-कभी सोने का शिप्र या टोप पहना जाता था।

युद्ध के शस्त्रास्त्रों का खूब अभ्यास किया जाता था। शत्रु के दुर्गों को नष्ट करना और आग लगा कर शत्रु के नगर को जीतना भी युद्ध में चलता था।

स्त्रीवर्ग—स्त्रियों का सम्मान होता था। वे अपने पिता, पति या पुत्र किसी पुरुष के संरक्षण में रहती थीं। स्त्री अपने पति के घर में स्वामिनी थी और यज्ञ, उत्सव आदि समारोहों में पति के बराबर सम्मान पाती थी।

स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं। उनके पठनपाठन का प्रबन्ध होता था। साधारण रूप से कन्या अपने घर को बड़ी बूढ़ियों और अन्य पूज्य लोगों से परिवार में ही शिक्षा प्राप्त करती थीं। कुछ स्त्रियाँ मंत्रद्रष्टा ऋषियों की भाँति ऋषि तथा ब्रह्मवादिनी भी हुई हैं।

शिष्टाचार—आर्यों के जीवन में शिष्ट आचार और सभ्य व्यवहार का बहुत महत्व था। गुरुजन और आचार्य बहुत सम्मान पाते थे। बड़ों के सामने आने पर प्रणाम करने और पिता तथा कुल के परिचय के साथ नाम बताने की प्रथा थी। राजदरबार, यज्ञभूमि और धार्मिक एवं सामाजिक समारोहों में शिष्ट आचरण बहुत आवश्यक था। आर्य युवक के लिए सभेय होना अर्थात् सभा में अपने आचरण से सम्मान पाना गौरव की वस्तु थी। आर्यों को झूठ से बड़ी चिढ़ थी। सत्य का व्यवहार जीवन का सबसे आवश्यक अंग माना जाता था।

कला—वैदिक आर्यों के जीवन में कला और सौंदर्य का प्रमुख स्थान था। उन लोगों का सौंदर्य के प्रति बड़ा जागरूक दृष्टिकोण था। कवित्व का विकास ऊँचे स्तर पर हुआ था। संगीत, नृत्य और तरह तरह के वाद्य आर्य जीवन में बहुत प्रिय थे।

व्यापार—इस काल में व्यापार काफी उन्नत था। साधारण रूप से वस्तुओं के विनिमय (बार्टर) की प्रथा थी। बाजार में भाव ताव और सौदा पक्का करने का भी उल्लेख हुआ है। सम्भवतः निष्क नामक किसी सिक्के का प्रचलन था। ऋण का व्यवहार भी चलता था जिस पर सूद लेने की प्रथा थी।

समुद्र तथा नदियों के मार्गों से दूर दूर तक व्यापार होता था। वणिक् या व्यापारी बड़ी नावों और बड़े जहाजों में जो कभी कभी सौ डांडों वाले होते थे माल ले जाते थे।

कृषि—कृषि या खेती विकसित अवस्था में थी। लोहे के हलों से जिन्हें बैल खींचते थे भूमि जोती जाती थी। हल बहुत बड़े भी होते थे जिन्हें कभी कभी दस बैल तक खींचते थे। भूमि की नाप जोख होती थी और उसका बटवारा होता था। चराई के लिए भूमि गावों में छोड़ी जाती थी। खेती वाली भूमि उर्वरा या क्षेत्र कहलाती थी। पड़ती भूमि को खिल्य कहते थे। खेती में धान, जौ, गेहूँ, तिल और दालें पैदा की जाती थीं। खेतों की सिंचाई भी होती थी। कुओं से चरस द्वारा और पोखर से तथा नहरों (कुल्या) द्वारा भी सिंचाई का उल्लेख है।

इस काल में पशु पालन भी काफी विकसित रूप में था। वेदों में गौ का स्थान बहुत ऊँचा कहा गया है। गाय को अदिति (देवों की माता) और अघ्न्या (अवध्य) कहा गया है। घोड़े आर्यों के जीवन के बहुत महत्त्व पूर्ण अंग थे। कुत्ते भी आवश्यक पालतू जानवर थे। भेड़, बकरी, गदहे, खच्चर भी पाले जाते थे।

मृगया—मृगया या शिकार जीविका, विनोद और जंगली जानवरों से पालतू पशुओं की रक्षा के लिए किया जाता था। अस्त्रों से और जाल में फंसा कर पशुओं को मारते थे। सिंह, हिरन आदि

कुछ जानवरों के लिए गड्ढों की युक्ति काम में लाई जाती थी। जंगली हाथियों को भी पकड़ा जाता था।

शिल्प या कारीगरी—आर्यों के जीवन में बढ़ई (तक्षा) महत्वपूर्ण स्थान रखता था। रथ, गाड़ियां, खेती के लिए हल और अन्य आवश्यक वस्तुएँ वह बनाता था। लकड़ी पर सुंदर नक्काशी का काम भी होता था। धातु का काम करने वाले (कर्मार) तरह तरह से लोहा, तांबा आदि धातुएं गलाते थे। धातु के बर्तन भी बनाए जाते थे। सुनार (हिरण्यकार) सोने चांदी से आभूषण बनाता था। चर्मकार या चमार चमड़े से प्रत्यंचा, गोफना, रथ कसने की डोरी, रास, चाबुक आदि आवश्यक सामान बनाता था। चमड़े को कमाते भी थे। तरह तरह से कपड़ों की तैयारी के लिए कताई और बुनाई का वेदों में उल्लेख हैं। शिल्पी या कारीगर का समाज में ऊंचा स्थान था।

स्वास्थ्य—आर्यों के जीवन में बलशाली और स्वस्थ शरीर आवश्यक समझा जाता था। उन लोगों का सौ वर्ष तक स्वस्थ, प्रसन्न और रोगमुक्त जीवन प्राप्त करना मुख्य ध्येय रहता था (जीवेम शरदः शतम्)। अच्छा भोजन, व्यायाम और चिंता रहित जीवन स्वास्थ्य के आवश्यक साधन थे।

उत्सव तथा मनोरंजन—आर्यों में उत्सव तथा समारोहों का बहुत प्रचलन था। यज्ञादिक धार्मिक कर्म भी समाज में उत्सव तथा हर्ष की सृष्टि करते थे। इसके सिवा बहुत से अन्य सामाजिक उत्सव जिन्हें समन कहते थे प्रचलित थे। समन में सामूहिक गान, नृत्य और नाट्य भी स्थान पाते थे।

आर्यों के मनोरंजन के भी बहुत से प्रकार थे। मेंढ़े आदि पशु और मुर्गे आदि पक्षी लड़ाए जाते थे और हार जीत पर बाजी बदी जाती थी। घोड़ों की और रथों की दौड़ की जाती थी जो बहुत

प्रिय थीं। आर्य जुए के भी बहुत शौकीन थे। उनमें जुए के लिए चुनौती देने पर कभी मना करने का नियम न था। कभी कभी जुए के कारण बड़ी ही हानियां होती थीं। ऋग्वेद में जुए के पासों, दांव और हार जीत का विशद उल्लेख है।

आधुनिक प्रवृत्तियों की तरह जब कि सम्मान धन अथवा राजकीय पद पर निर्भर है आर्य नहीं सोचते थे। आर्यों में सम्मान का मापदंड ज्ञान था। वे कहते थे—'योऽनूचानः स नो महान्'—जो अनूचान या ज्ञानी है वह हम लोगों में महान् है। राजा और धनी का सम्मान अपने पद तथा स्थान पर ही होता था पर ज्ञानी और विद्वान् सर्वत्र पूज्य समझा जाता था।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण—आर्यों का जीवन के प्रति ध्येय तथा दृष्टिकोण कुछ उद्धरणों से जाना जा सकता है। क्रत्वे दक्षाय जीवसे—मैं कर्त्तव्य और ज्ञान में पूर्णता के लिए जीता हूँ। अहमिंद्रो न पराजिग्ये—मैं स्वयं इन्द्र हूँ, कभी पराजित नहीं होता। न मृत्यवे अवतस्थे कदाचन—मैं कभी मृत्यु के वश में नहीं आता। कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेत् शतं समाः—यहाँ (इस संसार में) कर्तव्य करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करता हूँ।

राष्ट्र के प्रति दृष्टिकोण—अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त से अपने देश अथवा राष्ट्र के प्रति आर्यों की अत्यन्त प्रगाढ़ श्रद्धा और असीम प्रेम का पता चलता है। उसमें कहा गया है—'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'—भूमि मेरी माता है और मैं उस पृथिवी का पुत्र हूँ। यजुर्वेद के एक प्रार्थना मंत्र में राष्ट्र की बहुमुखी उन्नति की कामना प्रकट की गई है—आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्म वर्चसी जायताम्—हमारे राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी हों।

अध्याय २

महाकाव्यकाल—

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था

इनका महत्व—रामायण तथा महाभारत प्राचीन भारतीय साहित्य के दो उत्तम रत्न हैं। इनको इतिहास कहा गया है। इतिहास-पुराण नामक विद्या प्राचीन विद्याओं में गिनी जाती थी। महाकाव्य और विशुद्ध साहित्यिक रचना के ये दोनों अति श्रेष्ठ उदाहरण हैं। युग युगों से भारतीयों के ये प्रिय ग्रंथ हैं और आज भी सब भारतीय इनके पात्रों से परिचित हैं।

विषय—इन इतिहास ग्रंथों के विषय हैं, वंश चरित, आख्यान, धर्म और नीति। इनमें से हरेक का उल्लेख हमें प्राचीन वैदिक साहित्य में मिलता है। इन महाकाव्यों की और खास तौर से महाभारत की विशेषता है कि इन विषयोंको खूब विस्तारपूर्वक सरल भाषा में कहा गया है जिससे सर्वसाधारण के लिए ये सुलभ हों। सरलता के साथ साथ इनमें कविता का भी ऊंचा स्तर हमें मिलता है। इनकी भाषा भी वैदिक संस्कृत की सी जटिल न होकर सरल लौकिक संस्कृत है जो आज भी सुबोध है।

इन ग्रंथों का समय—ये दोनों ग्रंथ अपने आजकल पाए जाने वाले रूप में सूत्र युग की रचना हैं (७वीं से ५वीं शती ई. पू.)। फिर भी इनमें पाई जाने वाली कथाएं व अधिकांश सामग्री उस

समय से भी पहले की है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में भारत और उसके परिवर्द्धित रूप महाभारत का उल्लेख मिलता है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी दोनों का साथ साथ नाम आया है और दोनों ही इस काल में प्रचलित थे। महाभारत में वाल्मीकि रामायण का उल्लेख है और राम कथा भी कही गयी है।

कालक्रम—रामायण महाभारत से पूर्व की रचना है। रामायण में भारतीय भूगोल का वर्णन है और प्रारंभिक आर्यों की बस्तियों और राज्यों का उल्लेख है। वे विंध्य से उत्तर में ही हैं। उस समय तक आर्यों का प्रसार दक्षिण में नहीं हुआ था। महाभारत में सारे भारतवर्ष में आर्य राज्यों की दृढ़ स्थिति और उन प्रदेशों में राजवंशों का लम्बा इतिहास मिलता है। धार्मिक तथा सामाजिक साहित्य और भारतीय कथाओं में भी राम का उल्लेख महाभारत के नायक कृष्ण से पहले का है।

रामायण काल

रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि संस्कृत के आदि कवि हैं। रामायण में उन्होंने राम का आदर्श चरित्र कहा है। महर्षि वाल्मीकि ने दैवी अंश वाले एक आदर्श चरित का जितनी स्वाभाविक और कवित्वपूर्ण सरल शैली में निर्माण किया है वह आश्चर्यजनक है। राम के दैवी गुणों का और मानवोचित स्वभाव का अद्भुत सामंजस्य वाल्मीकि ने किया है।

कथा का महत्व—रामायण की कथा का आधार राम रावण युद्ध है। राम आर्य संस्कृति के प्रतीक हैं और रावण उससे विपरीत आदर्श और जीवन का। रावण शिव भक्त था और उसे अनेक अतिमानुषी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ प्राप्त थीं। राम विष्णु के अवतार हैं

और अध्यात्म एवं दैवी बल के मूर्तिमान रूप हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र और अगस्त्य इत्यादि ऋषि राम के सहायक हैं। उन्होंने आर्यपक्ष की उन्नति के लिए राम को प्रेरित किया। राम के सहायक वानर, ऋक्ष इत्यादि वनवासी जातियों के लोग थे। उन्होंने राम के अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित होकर राम का साथ दिया। राम के प्रयत्नों से सुदूर दक्षिण में लंका तक आर्यों की संस्कृति व सभ्यता का प्रसार हुआ। परन्तु रामायण की लोकप्रियता का कारण आर्यों के गौरव की यह गाथा नहीं है। रामायण के आदर्श पिता, पुत्र, भाई, पति, मित्र और सेवक अपने मनोहर चरित्र के कारण राम कथा को चिरकाल तक प्रिय बना सके हैं।

रामायण कालीन समाज—इस काल की सामाजिक व्यवस्था काफी विकसित और सुसंगठित थी। कुल या परिवार इस समय भी सबसे छोटी इकाई थी। परिवार के गुरुजन या पिता की बात सबसे ऊपर रहती थी। उनके वचन का अक्षरशः पालन होता था। ये सब परिवार छोटी बड़ी बस्तियों या ग्रामों में रहते थे।

बड़ी राजधानियाँ तथा विशाल नगर भी थे। दशरथ की राजधानी अयोध्या, जनक की मिथिला, निषादराज गुह की शृंगवेर-पुर और वानरों की किष्किन्धा ये सब बड़े नगर थे। रावण की राजधानी लंका उस काल में अपनी विशालता के लिए प्रसिद्ध थी। सामरिक महत्व के स्थान दुर्ग रूप में दृढ़ बनाए जाते थे। उनमें धन धान्य, अन्न, जल, यन्त्र, शिल्पी और धनुर्धर वीरों का अच्छा संग्रह रहता था।

नगर जीवन—नागरिक जीवन सुव्यवस्थित था। नगरों में बड़े-बड़े मकान, महल, बाजार इत्यादि होते थे। नागरिकों की पौर सभाएं होती थीं जिनका राज्य में सम्मान था। सब लोगों के उपयोग के लिए

व्यायामशालाएं, पाठशालाएं, आमोद-प्रमोद के स्थान इत्यादि भी थे। राजा और राजवंश सब प्रकार के सामाजिक तथा नागरिक समारोहों में प्रमुख भाग लेते थे। साधारण रूप से राजा प्रजा के प्रिय पात्र होते थे।

सामाजिक संस्कार—वैदिक युग के समान ही व्यक्ति के संस्कार भी होते थे। राजकुमार और राजवंश के व्यक्तियों के लिए इस प्रकार के संस्कारों की आयोजना थी जिनसे वे अपने योग्य गुणों को विकसित कर सकें। संस्कारों का आदर्श इस लोक में व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिये था। अन्य धार्मिक संस्कारों द्वारा परलोक में उसको सद्गति तथा शान्ति मिल सके इसका प्रयत्न किया जाता था।

वर्ण व्यवस्था—आर्यजाति के सदस्य वर्णाश्रम धर्म का पालन करते थे। जाति या वर्णव्यवस्था का दृढता से पालन किया जाता था। सबसे ऊंचा स्थान ब्राह्मणों का था। विद्या का पठन-पाठन और यज्ञादि धार्मिक कार्य करना कराना उनका कार्य था। ऋषि और योग्य ब्राह्मण राजा के सलाहकार और प्रेरक होते थे। द्विजातियों को ही वेदाध्ययन और तप का अधिकार था। द्विजाति वर्ग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के आधार पर जीवन क्रम निश्चित करते थे।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं था कि मानव के प्रति कोई घृणा का भाव हो। निषादराज गुह राम का अभिन्न मित्र था और गृद्ध जाति के जटायु दशरथ के मित्र थे। राम ने तो श्रद्धावश जटायु का अग्नि-संस्कार तक किया था। शबरी जो आर्य नहीं थी और स्त्री थी उसका भी सम्मान था। रामायण में उसे सिद्ध तपस्विनी कहा गया है और यह भी उल्लेख है कि उसे परमात्म-तत्त्व का पूर्ण ज्ञान था।

स्त्रियों की स्थिति—स्त्री का व्यक्तित्व पति के साथ इस काल में

एक हो गया था। कुछ स्त्रियां तो बहुत चतुर, तथा विदुषी होती थीं। कौशल्या, सुमित्रा, बाली की पत्नी तारा, रावण की पत्नी मंदोदरी और सबसे बढ़कर सीता अपने गुण चारित्र्य और निर्णायक मंतव्यों के लिए उस काल में बहुत प्रसिद्धि रखती हैं। केकैयी ने भी अपने पति दशरथ के साथ युद्ध में धैर्य तथा पराक्रम दिखाकर उनसे वरदान लिए थे। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि नारी वर्ग का जीवन महान् था। उनका सबसे बड़ा आदर्श पति में एकनिष्ठ भक्ति रखकर गृहस्थ जीवन की पूर्ण उन्नति करना था। शास्त्रोक्त यज्ञादि कर्मों में भी पति और पत्नी का संयुक्त अधिकार होता था। पत्नी के बिना पुरुष यज्ञ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठान नहीं कर सकता था।

विवाह की पद्धति—बहुविवाह प्रथा राजा आदि बड़े लोगों और क्षत्रियों में थी। एक पत्नीव्रत का आदर्श आर्यों के जीवन में श्रेष्ठ माना जाता था। राम और उनके भाई एक स्त्री वाले थे। प्रमुख ऋषियों ब्राह्मणों और धार्मिक लोगों में भी एक पत्नी व्रत का सदाचार था। लोक में भी सामान्यतः यही व्यवहार था।

विवाह के कई स्वरूप थे। साधारण रूपसे माता पिता आदि गुरुजनों की सहमति से सम्बन्ध स्थिर होता था। राजकन्याओं के स्वयंवर होते थे। आर्येतर लोगों में बलपूर्वक कन्या को छीन लाना (राक्षस विवाह) या बड़े भाई की विधवा से विवाह कर लेना, ये प्रथाएं भी थीं। गांधर्व विवाह का भी एक रूप प्रचलित था। आर्यों में साधारण रूप से अपने पूज्य लोगों की अनुमति आवश्यक थी।

रहन सहन, वेशभूषा—रहन सहन का स्तर अच्छा था। राजा तथा धनी लोग तो विशाल भवनों में जिनमें कई कई कक्ष्या या चौक होते थे रहते थे। उनके स्थान तरह तरह की विलास

और वैभव की सामग्रियों से भरे होते थे। रामायण में दशरथ और राम के महल, किष्किन्धा के निवास और रावण के महल उल्लेखनीय हैं।

पुरुष अधोवस्त्र (धोती) और उत्तरीय पहनते थे। और भी कई तरह के सिले हुए वस्त्र पहने जाते थे। स्त्रियां साधारण रूप से अच्छे वस्त्र पहनतीं थीं और शरीर को ढक कर रखती थीं। तरह तरह के कीमती वस्त्रों का भी उल्लेख है। बनवासी लोग वल्कल, मृग चर्म आदि का प्रयोग करते थे।

सैनिक वेश सबसे महत्वपूर्ण था। उसमें कवच और शरीर के अन्य अंगों को बचाने के लिए टोप, हस्तत्राण आदि का उल्लेख है। योद्धा लोग तरह तरह के अस्त्र शस्त्र रखते थे।

अस्त्र शस्त्र—सबसे प्रमुख अस्त्र धनुष बाण था। और भी हथियार जैसे परशु, खड्ग, त्रिशूल और नाराच, आदि का वर्णन है। मालूम पड़ता है कि आर्य जाति का सबसे प्रमुख अस्त्र धनुष बाण ही था जिसका प्रयोग आर्येतर जातियों में कम था। राम तथा उनके सब भाई अद्भुत धनुर्धर थे।

युद्ध—बिना बैर के क्रूरता का व्यवहार पाप माना जाता था, किन्तु आततायी का वध न्याय्य समझा जाता था। राम ने एक जगह कहा है कि युद्ध के लिए उद्यत होनेवाले का मन यदि शान्त हो और मुख कान्तिवान हो तो युद्ध में विजय होती है।

सेना के अंग चार होते थे, हाथी, घोड़े, रथ और पैदल। सेना के साथ भूमि का ज्ञान रखनेवाले, सूत्रधार (इंजीनियर आर्कीटेक्ट), यंत्रका ज्ञान रखनेवाले तरह तरह के कारीगर और आगे आगे मार्ग बनाने में कुशल शिल्पी चलते थे। गंगा नदी में सौ सौ योद्धाओं को लेकर चलने वाली लड़ाकू नावों का भी उल्लेख है।

द्वन्द्व युद्ध, कई आदमियों का एक से लड़ना, और बड़ी बड़ी सेनाओं का व्यूह रचकर युद्ध करना भी रामायण में आया है। रात्रि युद्ध भी होते थे। दुर्गों, नगरों और इसी तरह के संरक्षित स्थानों को जीतने के लिए तरह तरह की व्यूह रचना तथा युद्ध प्रणाली प्रचलित थीं।

राजा—राजा तथा राजवंश सामाजिक जीवन का केन्द्र था। राज-पद की इस काल में बहुत प्रतिष्ठा थी। विभिन्न सामग्रियों को एकत्र-कर राजा का अभिषेक होता था। यह कार्य अत्यंत श्रेष्ठ और अभिषेक सामग्री बहुत पवित्र मानी जाती थी। राज पद का अधिकार ज्येष्ठ पुत्र या युवराज को होता था। अन्य कुमार तथा राजपरिवार के लोग उसकी आज्ञा में रहते थे। राजा सब का स्वामी गुरु एवं ईश्वर माना जाता था। राजा की मन्त्रि-परिषद्, सलाह देनेवाली पौर सभाएं और सामाजिक एवं धार्मिक महत्व के लोगों का वर्ग राजा को सहयोग देते थे। उस समय में यह मान्यता थी कि धर्म के अनुसार दंड धारण करने वाला राजा प्रजाओं का पालन करता है और समूची पृथ्वी को अपने अधिकार में कर लेता है। वह देह त्यागने पर स्वर्ग जाता है।

दंड व्यवस्था—राम ने चित्रकूट में भरत से मिलने पर सबसे पहले जो प्रश्न किये वे राजधर्म के लिए महत्वपूर्ण थे। उन्होंने दंड व्यवस्था की चर्चा भी की। राजा के लिये यह आवश्यक था कि वह कुशल विद्वानों द्वारा अभियोग का विचार करवा कर दंड की व्यवस्था करे। निरपराध को दंड दिया जाना सबसे बड़ा पाप था। यदि सब साक्षी हो और अपराधी को दंड न मिले यह भी पाप था। धनी और गरीब न्यायालय में सब बराबर न्याय पाते थे।

अनार्यों के साथ संबंध—अनार्य या आर्येतर जातियों के प्रति इस काल में अच्छा दृष्टिकोण था। इन आर्येतर जातियों में निषाद, शबर (जिसकी शबरी थी), गृद्ध आदि जातियां थीं जो आर्यों के सम्पर्क में राम से पूर्व आ चुकी थीं। ये लोग आर्यों के अच्छे मित्र थे। दूसरी जातियाँ वे थीं जो राम के समय में आर्यों की मित्र बनी थीं। उनमें वानर, ऋक्ष प्रमुख थे। ये लोग भी आर्यों के अभिन्न मित्र बन गए थे और इन्होंने राम के कार्य के लिए अपना रक्त बहाया। तीसरे वर्ग में राक्षस तथा यक्षों की जातियां थीं। इन लोगों का आर्यों से स्वभावतः बैर था। ये लोग नर मांस भक्षी भी थे और ऋषियों के आश्रमों और धार्मिक यज्ञादिक कार्यों को नष्ट करने में सुख अनुभव करते थे। राम ने इन लोगों के आततायी वर्ग का नाश किया और विभीषण के नेतृत्व में एक नये राक्षस वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो आर्यो के प्रति सहानुभूति परक था। राम की इन से तीन मुठभेड़ें हुईं। पहली विश्वामित्र के आश्रम में ताड़का, सुबाहु और मारीच के साथ, दूसरी पंचवटी जन स्थान में खर, दूषण और त्रिशिरा के साथ, और तीसरी इन राक्षसों के प्रधान गढ़ लंका में राक्षसराज रावण और उसके कुल के साथ। राम ने इन लोगों के साथ छिटपुट घूमकर नाश करने वाले अन्य विराध, कबन्ध इत्यादि राक्षसों को भी निर्मूल किया।

धार्मिक स्थिति—इस काल में धर्म का दायरा काफी विस्तृत हो गया था। वैदिक देवताओं के साथ नये देवता, बहुत से लोकधर्म के विश्वास, शकुन, मंगल कार्य, आदि भी धर्म में ले लिये गये थे। अगस्त्य के आश्रम में देवताओं के स्थानों की सूची मिली है जो महत्व की है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, महेन्द्र, सूर्य, (विवस्वान्), चन्द्रभा (सोम), भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसु, नागराज, अनन्त, गरुड़, कार्तिकेय, एवं धर्मराज की पूजा होती थी।

शिव भी आर्यों में पूज्य देव हो गए थे, यद्यपि आर्येतर जातियों में विशेषकर राक्षसों में शिव की मान्यता सब से अधिक थी।

इन देव-देवियों के स्थान और मंदिर बनाए जाते थे, जहाँ पर पूजा होती थी। राजभवनों में भी देव मंदिर होते थे जैसा कि कौशल्या के महल में देव मंदिर से स्पष्ट है। देवपूजन से मनोरथों की प्राप्ति की अभिलाषा रहती थी। इन देव मंदिरों में देवताओं के प्रतीक रूप मूर्तियां स्थापित की जाती थीं।

यज्ञादिक क्रम—वैदिक यज्ञों की परम्परा इस समय भी थी। यज्ञ धार्मिक कर्म के एक विशिष्ट अंग माने जाते थे। भौतिक फल की प्राप्ति के लिए यज्ञ किया जाता था। दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए अथर्व वेद के मंत्रों से पुत्रेष्टि यज्ञ किया। अश्वमेधादि यज्ञ भी होते थे।

धार्मिक विश्वास—देव पूजन तथा यज्ञादि कर्मों के साथ वृक्षादिक की पूजा भी इस समय आ गयी थी जैसा कि चैत्य वृक्षों की पूजा से ज्ञात होता है। भरद्वाज आश्रम के पास सीता ने अक्षय वट का जो श्यामवट कहलाता था पूजन किया। गंगा को भी पूज्य माना जाता था। गंगा यमुना का संगम एक पवित्र तीर्थ स्थल था। सीता ने अपने कल्याण की कामना के लिए गंगा से मनौती भी मानी थी।

शकुन शुभ मुहूर्त आदि में जनता का विश्वास था। विवाह, राज्याभिषेक, विजयाभियान, यात्रा आदि शुभ मुहूर्त में अच्छे शकुन देख कर किये जाते थे। ज्योतिष के अन्य अंगों में हस्तरेखा विज्ञान का भी उल्लेख है। सीता ने अपने वन जाने के बारे में बहुत पहले ही हस्तरेखा विशारदों से सुना था। मुहूर्त के बारे में तो ऐसा विश्वास था कि यदि धन के खोने के समय भी अच्छा मुहूर्त हो तो

शीघ्र ही खोया धन मिल जाता है। इसमें विन्द नामक मुहूर्त मुख्य कहा गया है। शुभ कार्य की निर्विघ्न सफलता के लिये मंगल किये जाते थे जिनमें गोदान व नान्दीमुख श्राद्ध प्रमुख थे।

अंतिम संस्कार—ज्येष्ठ पुत्र या उसके न होने पर दूसरा पुत्र दाहकर्म करता था। दाह के बाद आत्मा की शांति के लिए तर्पण और जलांजलि दी जाती थी। दाह करनेवाला दस दिन तक भूमि पर शयन करता था। ग्यारहवें दिन आत्मशुद्धि के लिए एकादशाह श्राद्ध होता था। बारहवें दिन द्वादशाह श्राद्ध दूसरे लोक में मृतक के कल्याण के लिए दानादि से होता था। तेरहवें दिन अस्थि संचय का उल्लेख है। मरण आदि शोक के समय में शिष्टाचार के नियम भी बदल जाते थे।

परलोक में विश्वास—राम ने भरत को समझाते हुए इस संसार को दैव और काल के वश बतलाया है, और स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक की कल्पना दी है जहां पर मरने के उपरान्त धर्मात्मा जाते हैं। परलोक की कल्पना इस समय एक महत्वपूर्ण विश्वास था। अपने कर्तव्य को तथा धार्मिक कार्यों को करके ही मनुष्य अच्छे लोकों में मृत्यु के उपरान्त जाता है। कुछ तपस्वी इन लोकों की कामना से अपने तप की स्थिति में ही चिता में भस्म हो जाते थे।

पाप—इस समय में कुछ समाज विरोधी तथा अनुचित कार्यों को पाप कहा गया है। गौ, ब्राह्मण और वानप्रस्थी का वध घोर पाप था। स्त्री भी अवध्य थी। सीता ने एक जगह सबसे घोर पाप तीन बताए हैं—झूठ बोलना, पर स्त्री संसर्ग, और बिना बैर के क्रूरतापूर्ण बरताव। इन पापों को काम के दोष से जनित बताया गया है। इनका निराकरण नहीं है। झूठी गवाही देना और अतिथि सत्कार न करना भी बड़े घोर पाप थे। इन

निषेधात्मक बातों से आर्यों के सदाचार पूर्ण जीवन का हमें अच्छा परिचय मिलता है।

आर्येतर जातियों का धर्म—राक्षस लोग शिव को पूज्य मानते थे और यज्ञादिक कर्मों तथा देवताओं से उनका सहज बैर रहता था। लंका की एक बहुत पूज्य देवी थी जिसका नाम निकुम्भिला था। उसके चैत्य में जाकर वे लोग तरह तरह की क्रियाओं से आराधना करते थे। हनुमान ने जान-बूझकर इसको नष्ट किया था।

निषाद, वानर, ऋक्ष आदि जातियां तो धार्मिक क्रियाओं और संस्कारों में आर्यों का ही अनुसरण करती थीं। आचार का और मैत्री संबंधों का इनमें काफी सम्मान था। वानर लोगों में राम तथा सुग्रीव के मित्र बनने के समय अग्नि की साक्षी ली गयी थी।

मृतक संस्कार—आर्येतर जातियों में शव को जलाने और गाड़ने की भी प्रथा थी। विराध राक्षस को उसकी प्रार्थना पर रामने श्वभ्र या गर्त (गडढा) में गाड़ा था। बाली और राक्षसों में कबन्ध तथा रावण का भी दाहसंस्कार किया गया था। परलोक के लिए कुछ श्राद्ध तथा पिंडदान आदि क्रियाएं भी इन लोगों में थी।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण—आर्यों का भाग्य या अदृष्ट में विश्वास था। उनका यह भी मत था कि सारे संसार की घटनाओं के उतार चढ़ाव में काल का ही प्रभुत्व है। पर ये लोग निराशावादी नहीं थे। दैव या भाग्य के हाथ में अपने जीवन की व्यवस्था का विश्वास करके वे लोग कर्म और पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते थे। ऋषियों का जीवन तो सुंदर था ही, पर राम के कुल इक्ष्वाकु वंश का आचार भी ध्यान देने योग्य है। उनका कुल धर्म था दान देना, यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में आगे बढ़ कर प्राण त्यागना।
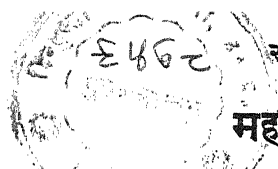
महाभारत काल

महाभारत भारतीय संस्कृति का महाकोश (ऐंसाइक्लोपोडिया) है। इसके रचयिता महर्षि वेदव्यास संस्कृत साहित्य के विश्वप्रसिद्ध महाकवि हैं। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को कथा के साथ बड़े सुन्दर ढंग से सजाया है। इससे आर्यजाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा हो गया है।

कथा का महत्व—महाभारत के काल में आर्य संपूर्ण भारत में फैल चुके थे। इनका भौगोलिक विस्तार मध्य एशिया से लेकर दक्षिणी समुद्र तक हो गया था। महाभारत की मूल कथा कौरव-पाण्डवों के युद्ध पर आधारित है। कहा जाता है कि इस युद्ध की घटना आज से पांच हजार वर्ष पूर्व (दूसरे मत से तीन हज़ार वर्ष पूर्व) हुई।

युग की राजनीति में देश में दो दल मुख्य थे। पहला दल कृष्ण के नेतृत्व में पाण्डवों और उनके सहायक राजाओं का था। दूसरे पक्ष में कौरव, जरासन्ध, कंस, शिशुपाल, दन्तवक्र, नरकासुर, भगदत्त आदि बहुत से राजा थे। पांडव विजयी हुए और देश में धर्म की स्थापना हुई। महाभारत की कथा की सबसे बड़ी बात यह है कि सिद्धान्त और सत्य धर्म के लिए अपने निकट संबंधी तथा मित्र भी यदि बाधक हों तो उनका भी नाश कर देना चाहिए। महाभारतकार का आदर्श धर्म का राज्य है। युधिष्ठिर धर्मराज हैं। वे कृष्ण के बुद्धिबल से घोर शस्त्रबल को भी पराजित करते हैं और धर्म की स्थापना करते हैं। महाभारत धर्म की व्याख्या करनेवाला महान् ग्रंथ बन गया है।

महाभारत कालीन भारत—महाभारत कालीन समाज का क्षेत्र

बहुत विस्तृत हो गया था। जीवन के विभिन्न रूप और सामाजिक स्तर निश्चित स्थान पा चुके थे। यह भारतीय सभ्यता के उत्कर्ष का युग था। भौतिक रहन-सहन और दार्शनिक विचार दोनों का स्तर ऊंचा था।

कुल या परिवार—कुल की इस समय प्रधानता थी। राज्यों में वंश परंपरा का प्रमुख स्थान था। परिवार का सबसे बड़ा सदस्य परिवार का नेता होता था, पर यदि कोई सदस्य राजा हो तो उसका स्थान सबसे ऊपर होता था। जैसे भीष्म के सबसे वृद्ध होने पर भी कुरुओं के कुल में वे निर्णायक मत नहीं देते थे।

बस्तियाँ—इस काल में घोष या व्रज नामक बस्तियाँ थीं जिनमें लोग पशु पालन के लिए रहते थे। और भी ग्रामों, छोटे नगरों (कस्बे) और हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, द्वारका, मथुरा, राजगृह इत्यादि विशाल नगरों में लोगों का निवास था। नगर ढंग से बसाए जाते थे। उनका नागरिक जीवन सुव्यवस्थित था। नगरों में बड़े-बड़े महल, सभा, न्यायाधिकरण, द्यूतशाला, संगीतशाला और मल्लों की क्रीड़ाशालाएँ होती थीं। नगर के बीच में प्रमुख भाग के चारों ओर बड़े-बड़े बाजार, मुहल्ले और उद्यान होते थे। नगर की रक्षा के लिए परिखाएं (खाइयाँ), प्राकार और नगरद्वार होते थे।

नागरिक जीवन—नागरिक समृद्ध आर्थिक जीवन बिताते थे। शिल्पियों के संगठन श्रेणी कहलाते थे।

वर्ण व्यवस्था—इस काल में भी चार वर्ण थे और उनमें ब्राह्मण मुख्य थे। और भी अवान्तर जातियाँ अस्तित्व में आ चुकी थीं। उनके साथ क्षत्रिय लोग विवाह करते हुए नहीं हिचकिचाते। इस युग में मनुष्य की श्रेष्ठता के लिए उसके जन्म की अपेक्षा

चरित्र एवं ज्ञान को ऊंचा माना जाता था। व्यास स्वयं निषाद कन्या के पुत्र थे। वे जन्म से नहीं अपने कर्म तथा ज्ञान से श्रेष्ठ माने गए।

कुछ दूसरे प्रकार के उदाहरण हैं। द्रोणाचार्य ने सूत कुल में उत्पन्न कर्ण को और निषाद युवा एकलव्य को धनुर्वेद नहीं सिखाया क्योंकि वे लोग राजकुमार या क्षत्रिय नहीं थे। परशुराम ब्राह्मण के सिवा किसी को अस्त्र विद्या नहीं देते थे।

गीता में कृष्ण ने कहा है कि मैंने वर्ण और जाति गुण और कर्म से बनाई हैं (चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुणकर्म विभागषः) जन्म से श्रेष्ठता होती है पर गुण कर्म के सामने वह फीकी पड़ जाती है। व्यास ने कहा है–नहि मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित् अर्थात् सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ वस्तु मनुष्य है। धर्म से युक्त मनुष्य सम्मान का अधिकारी था। अधर्म से युक्त मानव के नाश तक को न्याय कहा गया है।

स्त्रियों की स्थिति—स्त्री वर्ग का सम्मान होता था। कुछ राजाओं की पत्नियाँ जैसे गांधारी अपने गौरव और गुणों से अत्यंत सम्मानित थीं। द्रौपदी अपने सब पतियों के सुखों का प्रबंध करते हुए युधिष्ठिर के राज्य की व्यवस्था में भी योग देती थी। वह राजनीति, धर्म और सब प्रकार की कलाओं में कुशल थी। उसके विचारों का कृष्ण तक सम्मान करते थे। इसी प्रकार कृष्ण की पत्नी सत्यभामा भी बहुत अनुभवी और बुद्धिमती थीं।

स्त्रियों के लिये अस्त्रविद्या की शिक्षा का भी प्रबंध होता था। कुछ स्त्रियां ज्ञान साधना में लग जाती थीं। वे जन्म भर के लिये ब्रह्मचारिणी बनकर संयम का जीवन बिताती थीं। ब्रह्मवादिनी सुलभा ऐसी ही थी। उसने जनक से ब्रह्मविद्या पर चर्चा की।

विवाह पद्धति—आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे—१ ब्राह्म, २ प्राजापत्य, ३ आर्ष, ४ दव, ५ गांधर्व, ६ आसुर, ७ राक्षस, ८ पिशाच। इनमें पहले चार श्रेष्ठ और बाद के चार अच्छे नहीं माने जाते थे। परन्तु क्षत्रियों में राक्षस या बलपूर्वक कन्या छीन लाने का भी प्रचलन था। गांधर्व विवाह पुरुष और स्त्री की आपसी सहमति से होता था। कृष्ण का रुक्मिणी से, अर्जुन का सुभद्रा से और कृष्ण के पुत्र साम्ब का दुर्योधन की पुत्री से विवाह राक्षस विवाह के उदाहरण हैं। दुष्यंत का शकुन्तला से, अर्जुन का उलूपी और चित्रांगदा से गांधर्व विवाह के उदाहरण हैं। राजकन्याओं के स्वयंवर होते थे। पाण्डवों ने द्रौपदी को स्वयंवर में प्राप्त किया था। राज-कन्याएं घूमकर अपने लिए योग्य पति का भी चुनाव करती थीं। सावित्री का सत्यवान से विवाह इसका उदाहरण है।

सन्तानहीन राजा की पत्नी से और विधवा से पुत्र प्राप्ति के लिये नियोग की प्रथा थी। चित्रांगदा, विचित्रवीर्य, पांचों पांडव आदि का जन्म ऐसे ही हुआ था। इस प्रकार जन्मी हुई सन्तान का भी औरस पुत्र के समान ही अधिकार था। बहुविवाह प्रथा भी थी। राजा लोग कई विवाह करते थे। बहुपति प्रथा का केवल एक उदाहरण द्रौपदी और पांडवों का मिलता है।

रहन-सहन, वेषभूषा—रहन-सहन का स्तर ऊंचा था। राजा और धनी लोग बड़े-बड़े महलों में जो बागों से घिरे होते थे, निवास करते थे। युधिष्ठिर की सभा पत्थर के खंभों से बनाई गई थी। उसकी दीवारें शीशे की तरह चमकती थीं। उसका चमकीला फर्श देखकर जल का भ्रम होता था। युधिष्ठिर ने कृष्ण और व्यास की उपस्थिति में बड़ा उत्सव करके इन्द्रप्रस्थ नगर की नींव डाली थी। नगर में परिखा, प्राकार, नगरद्वार, राजप्रासाद, महापथ, वीथि,

चत्वर, कोष्ठागार, भांडागार, आयुधागार, देवतायतन, राजसभा, शिल्पियों की कर्मशालाएं, उद्यान, वाटिका, पुष्करिणी, रंगस्थान, आक्रीड आदि नाना स्थान होते थे।

राजा—समाज में राजा का प्रमुख स्थान था। इस काल में दो प्रकार की राज पद्धतियां थीं—एक साम्राज्य और दूसरी गणराज्य। कौरव, पांडव, पांचाल, विराट, मद्र, गंधार, जरासंध इत्यादि का सामाज्य शासन था। कृष्ण, अन्धकवृष्णि गणराज्य के प्रमुख थे। दोनों में ही राजा या गण के प्रमुख का बहुत सम्मान था।

गृहस्थ जीवन—इस युग में गृहस्थ जीवन का सबसे अधिक सम्मान था। आश्रम व्यवस्था तो थी ही, पर गृहस्थ का इतना ऊंचा स्थान पहले कभी नहीं हुआ था। व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थाश्रम सब आश्रमों में श्रेष्ठ है। वह पवित्र धर्म है और उसकी ही उपासना करनी चाहिए। व्यास की दृष्टि में वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर भागता है। गृहस्थ के लिए पुरुषार्थ और कर्म प्रमुख धर्म थे। उसके लिए यज्ञों का विधान किया गया है। सब प्राणियों के प्रति दयाभाव और उनका पालन भूतयज्ञ एवं अतिथियज्ञ के रूप में था।

व्यापार और कला-कौशल—विभिन्न प्रकार की सामग्रियों के खरीदने-बेचने और दूर-दूर के देशों से तथा समुद्री मार्ग से भी व्यापार होने का उल्लेख है। चारों दिशाओं के राजा युधिष्ठिर के लिए सुन्दर शिल्प का सामान लेकर आए थे। उत्तर से कम्बल, स्वर्ण, कालीन, ऊनी वस्त्र, दक्षिण से मणिमुक्तावाले वस्त्र, पूर्व से हाथीदांत, ओषधियां, यशब की वस्तुएँ, उत्तम रथ और पश्चिम से नाना भांति के वस्त्र उपहार में आए। ज्ञात होता है कि देश में व्यापक वाणिज्य सम्बन्धों की स्थापना हो चुकी थी। कृषि और पशु

पालन भी प्रचलित रूप से जीविका के साधन थे। मथुरा के यादवों में और कृष्ण के गणराज्य में गौ तथा अन्य पशुओं का पालन मुख्य कार्य था। कृष्ण स्वयं गोपाल कहे जाते हैं। इस युग में आर्थिक वृत्तियाँ, हुनरमंदी और शिल्पों में निपुणता मानव की श्रेष्ठता की सबसे उत्तम कसौटी मानी जाती थी।

युद्ध—युद्ध और सैनिक शिक्षा प्रायः सभी क्षत्रियों के जीवन की प्रमुख साधना थी। सेना के चार अंग हाथी, घोड़े, रथ और पैदल होते थे। सेना की एक संख्या अक्षौहिणी मानी जाती थी। वह बहुत से छोटे-छोटे अंगों में (युनिट्स) बंटी होती थी। इस काल में रथ सेना का सबसे प्रमुख अंग था। महाभारत के सब बड़े योद्धा भीष्म, द्रोण, अर्जुन, कर्ण आदि महारथी थे। धनुष और बाण से युद्ध करने की प्रथा थी। आदमी की ऊंचाई के बराबर लम्बे धनुष को महेष्वास कहते थे। इस काल के वीर योद्धा अलग-अलग शस्त्रों में प्रवीणता प्राप्त करते थे जैसे कृष्ण, अर्जुन, भीष्म, कर्ण बड़े धनुर्धर, बलराम, भीम, दुर्योधन आदि गदाधारी प्रसिद्ध हैं। युद्धों में सेना की व्यूह रचना की जाती थी। इनमें चक्रव्यूह, शकट व्यूह प्रसिद्ध थे। नाराच, वितस्ति (बालिश्त भर का तीर जिसे आजकल नावक कहते हैं), चक्र, गदा, पट्टिश, शतघ्नी युद्ध के शस्त्रास्त्र थे। पहाड़ी लोग पत्थर लुढ़काकर या भिन्दिपाल (गोफने) से पत्थर के गोले चलाकर प्रहार करते थे।

युद्ध का आदर्श ऊंचा था। युद्ध करने के बंधेहुए नियम थे जिनका पालन दोनों पक्षों के लिए आवश्यक माना जाता था। महाभारत युद्ध से पहले पांडवों और कौरवों के बीच में ये नियम माने गए थे। कायर, डरे हुए, निशस्त्र, बिना कवच के, बालक और स्त्री या नपुंसक का वध नहीं किया जाता था। योद्धा अपने बराबर वाले से ही लड़ते

थे। निरपराध और दुर्बल को सताना पाप माना जाता था। पर आततायी को मारना धर्म समझा जाता था।

अधार्मिक अवस्था—इस काल के लोकजीवन में धर्म का बड़ा महत्त्व था। व्यास ने कहा है 'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः।' अर्थात् उस महान् धर्म को नमस्कार है क्योंकि धर्म प्रजाओं का धारण करता है। जीवन में सुख और दुख सदा एक से नहीं रहते। पर सम्पत्ति और विपत्ति में जो वस्तु एक सी बनी रहती है वह धर्म है। व्यास का कहना है कि धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है।

देवी देवता—इस काल में कई तरह के देवता पूजे जाते थे। एक ओर पुराने वैदिक देवता थे। दूसरी ओर लोक जीवन में कितने ही यक्ष, नाग, वृक्ष आदि पूजे जाते थे। महाभारत में दोनों का वर्णन किया गया है। देवताओं के मन्दिर बनाये जाते थे। इनमें उनकी मूर्ति की स्थापना की जाती थी। गंधपुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, संगीत पद्धति चल गयी थी। इस काल में नारायण या विष्णु की पूजा सबसे ऊपर मानी जाने लगी थी। नारायण के प्रति इतनी आस्था के कारण महाभारत के धर्म को नारायणीय धर्म भी कहते हैं।

यज्ञ—इस काल में यज्ञों के साथ-साथ गृहस्थ के दैनिक कार्यों को भी यज्ञ का स्वरूप दे दिया गया था। उन्हें भूत यज्ञ, अतिथि यज्ञ आदि कहते थे। राज्य सत्ता के प्रतिष्ठापन और विस्तार के लिए राजा लोग राजसूय और अश्वमेध जैसे बड़े यज्ञ करते थे। युधिष्ठिर ने पहले दिग्विजय की और फिर राजसूय किया। दूसरे राजाओं को जीतकर जो यज्ञ करता था, वही सम्राट् या सार्वभौम राजा हो सकता था।

धार्मिक विश्वास—जनसाधारण शकुन, मुहूर्त, मंगल, विघ्न

नाशक क्रियाओं में विश्वास करते थे। विवाह, दिग्विजय, यज्ञ, स्वयंवर और यात्रा शुभ मुहूर्त निकाल कर किए जाते थे। देवताओं के मेलों को समाज और यात्रा कहते थे। देश में बहुत से स्थान पुण्य-स्थल और तीर्थ माने जाते थे। लोग इन स्थानों की यात्रा करते थे। पांडवों ने अपने पुरोहित धौम्य के साथ तीर्थयात्रा की। इधर जब कौरव-पाण्डवों का युद्ध हो रहा था, बलराम जी तीर्थयात्रा करने चले गए थे। जीवन में व्रत, उपवास, नियम आदि आवश्यक माने जाते थे। अर्जुन ने जब इन्द्र से अस्त्रों को ग्रहण किया तब ब्रह्मचर्य व्रत लिया। यह विश्वास था कि व्रतों से और संयम से कार्य की सिद्धि होती थी।

अंतिम संस्कार—मनुष्य शव का वैदिक रीति से दाहसंस्कार किया जाता था। यह समझा जाता था कि विधिपूर्वक किया हुआ अन्तिम संस्कार मानव को सद्गति देता है। सह मरण या सती प्रथा के भी कुछ उदाहरण हैं। माद्री अपने पति पाण्डु के साथ सती हो गई थी। परलोक में आत्मा की शान्ति के लिये तर्पण, पिण्डदान और श्राद्ध किए जाते थे।

ऐसा विश्वास था कि मनुष्य अपने कर्म के अनुसार अच्छे लोकों में जाता है। और योग में स्थित पुरुष एवं युद्ध में वीरता से लड़कर मारा गया व्यक्ति सूर्यमण्डल को भेदकर उससे भी ऊपर की गति प्राप्त करता है।

दर्शन—व्यास का मत है कि मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इन्द्रियों को वश में रखने के सिवाय आत्मा की उन्नति का दूसरा उपाय नहीं। सब प्रकार के विचारों में तथा कार्यों में सत्य आवश्यक है। सत्य का मूल आधार इन्द्रिय दमन है। इन्द्रिय संयम का फल मोक्ष है। व्यास ने ब्रह्मदर्शन और आत्मज्ञान का महत्त्व माना है, पर कर्म पर बहुत जोर दिया है। एक ऋषि कहता है—'उपदेशेन

वर्तामि नानुशास्मीह कंचन'-मैं अपनी करनी से सिखाता हूँ, किसी को मुंह से कह कर नहीं। ऋजु भाव की उपासना ब्रह्मपद की प्राप्ति है, कुटिलता मृत्यु का पद है। यही ज्ञान का सार है और अन्य सब व्यर्थ है।

कालधर्म—व्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा महत्त्व है। उन्होंने कहा है कि कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे दैव (काल) के रास्ते को नहीं रोक सकता। यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसी का दूसरा नाम सनातन ब्रह्म है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य कुछ करे नहीं। वह सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजु भाव या सचाई अपना सकता है। इन्द्रियों के निरोध और आत्मचिंतन से इसी शरीर में आत्मज्योति प्राप्त करना आवश्यक और संभव है।

अध्याय ३

पुराण और उनका युग

वैदिक युग की विद्यासंस्थाओं में जिस प्रकार अन्य विद्याओं का अध्ययन-अध्यापन किया जाता था उसी तरह इतिहास-पुराण विद्या का अध्ययन भी होने लगा था। छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट ही इतिहास पुराण को विद्या कहा है, पाठ्य विषयों में जिसका दर्जा वेद तथा वेदांग जैसा ही था।

अनुश्रुति के अनुसार पुराणों का सम्बन्ध वेदव्यास से माना जाता है। वेदव्यास को पाराशर्य भी कहा गया है। अतएव अनुमान होता है कि ऋग्वेद के अन्तर्गत पाराशर्य चरण में इतिहास पुराण विद्या का नियमित अध्ययन पहले पहल आरंभ हुआ होगा। सभी पुराण ऐसा मानते हैं कि वेदव्यास के शिष्यों ने इस विद्या को आगे बढ़ाया।

कहा जाता है कि मूल पुराण संहिता चार सहस्र श्लोकों के बराबर थी। इस समय उसका सौगुना विस्तार होकर सब पुराण चार लाख श्लोकों के बराबर हैं। प्रश्न है कि यह वृद्धि कैसे हुई और किसने की।

पहला तथ्य तो यह है कि पुराणों में इस प्रकार की वृद्धि को दोष नहीं माना जाता था। उसे प्रक्षेप कहना न्याय संगत नहीं। ग्रंथ रचना की पुरानी परिभाषा के अनुसार पुराणों की कलेवर वृद्धि को 'उपबृंहण' कहते थे। पुराण रचना का जो आदर्श था उसके अनुसार न केवल उपबृंहण एक गुण था बल्कि एक आवश्यक कर्त्तव्य

भी। उपबृंहण के द्वारा ही पुराणों में नए नए विषयों का समावेश किया जाता था। हरेक युग में चतुर ग्रंथलेखक नए नए सामाजिक और धार्मिक तत्वों को छन्दोबद्ध करके पुराणों में स्थान देते चलते थे। यह इस देश की सर्वमान्य साहित्यिक पद्धति थी। इस प्रकार की रचना करने वाले, पुराण रचना की मूल शैली को न छोड़ते थे। उसकी दो विशेषताएं थीं—एक संवाद शैली और दूसरी आख्यान शैली। किसी भी नए ज्ञान या घटना को इस साँचे में ढालकर पुराण के अनुकूल बना लिया जाता था।

पुराण शैली की तीसरी बड़ी विशेषता वह अनुष्टुप् श्लोक था जिसके बत्तीस अक्षरों का वेग गंगा की बढ़ती हुई लहरों की तरह कथानक को सरलता और सुन्दरता से गूँथता हुआ चलता था। इस सक्षम छन्द का आविर्भाव और कुशल प्रयोग भारतीय साहित्य के लिये बहुत कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

अब प्रश्न यह है कि पुराणों में बढ़ती किसने की और पुराणों का रचयिता वेदव्यास को ही आजतक क्यों माना जाता है। पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि पुराणों का अध्ययन और अध्यापन करने वाले विद्वान पौराणिक कहलाते थे। बाण ने हर्ष चरित में विशेषरूप से पौराणिकों का उल्लेख किया है। आजकल उत्तर भारत में पौराणिकों को व्यास कहने लगे हैं। गुजरात तथा महाराष्ट्र में वे अभी भी 'पुराणी' या पुराणिक कहलाते हैं। अपने देश में विद्या की ऐसी परम्परा रही है कि प्रत्येक शास्त्र उसके पढ़ने पढ़ाने वाले लोगों की गुरुशिष्य परम्परा के रूप में जीवित रहता है। जैसे पाणिनि से लेकर आजतक व्याकरण के पढ़ने पढ़ाने वाले वैयाकरण विद्वानों की परम्परा चली आती है, ऐसे ही समझना चाहिए कि मूल पुराण के रचयिता वेदव्यास से लेकर आजतक पौराणिकों की गुरुशिष्य

परम्परा अटूट बनी रही है। अभी तक पुराणों की कथा कहने के लिये पौराणिक विद्वान (व्यासजी) को ही बुलाया जाता है, ठीक उसी प्रकार जैसे व्याकरण के लिये वैयाकरण अथवा वेद पारायण के लिये किसी श्रोत्रिय या वैदिक को। इसी क्रम से विद्याओं की परम्परा सहस्रों वर्षों तक अक्षुण्ण बनी रही। इन पौराणिकों में जो प्रतिभाशाली विद्वान होते थे वे समय की आवश्यकतानुसार उत्पन्न हुए नए विषयों को कविता में ढालकर मूलपुराणसंहिता में जोड़ते रहते थे, अथवा कुछ कुछ पुराने विषयों को मूलरूप में ग्रहण करके उन्हें नए ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत कर देते थे। इस प्रकार बढ़ते बढ़ते गुप्तयुग के लगभग पुराणों की संख्या अट्ठारह तक पहुँच गई। उसके बाद भी उनकी कलेवर वृद्धि होती रही और नए पुराण भी बनाए जाते रहे जो उपपुराण हुए।

इस प्रकार पुराणों का उपबृंहण करनेवाले विद्वान भिन्न २ समयों में रहे होंगे, किन्तु उनमें से एक ने भी कहीं भी अपना नाम नहीं दिया। इसका भी कारण था जिसे जान लेने पर यह समझा जा सकेगा कि सब पुराणों को व्यासजी का ही रचा हुआ क्यों माना जाता है। बात यह है कि उत्तर वैदिक युग में ग्रंथों के नामकरण की यह प्रथा थी कि एक आचार्य द्वारा संस्थापित चरण या शिक्षासंस्था में सैकड़ों वर्षों तक जितने भी ग्रंथ रचे जाते थे उन सबका नाम, उस संस्था का नाम एवं उसमें पढ़ने पढ़ाने वाले गुरुशिष्यों का नाम ये तीनों ही उसी मूल संस्थापक आचार्य के नाम पर रखे जाते थे। जैसे तित्तिरि आचार्य का चरण तैत्तिरीय, उसके गुरु-छात्र भी तैत्तिरीय एवं उसके अन्तर्गत रचे हुए संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र एवं प्रातिशाख्य ग्रंथ सब तैत्तिरीय ही कहलाए, चाहे उनकी रचना उस चरणके किसी भी विद्वान ने मूल आचार्य के कितने भी वर्ष बाद की हो। आगे चलकर जब ऐसी नई विद्याओं का आविर्भाव

या शाखों का उदय हुआ जिनका पठन पाठन चरणों के अन्तर्गत न था, तो पहली नामकरण प्रथा में परिवर्तन करना पड़ा और नए शाखों का नाम अपने अपने आविष्कारक आचार्यों के नाम पर होने लगा या ग्रंथों का नाम उनके रचयिताओं के नाम पर रखा जाने लगा, जैसे पाणिनि का व्याकरण पाणिनीय कहलाया और वाल्मीकि की रामायण वाल्मीकीय कही गई। परन्तु पुराणों के क्षेत्र में नामकरण की जो पहली पद्धति थी वही चालू रही। उसमें कभी परिवर्तन नहीं हुआ। इसीलिये सारे पुराण आजतक व्यासजी के रचे हुए कहे जाते हैं चाहे उनकी रचना किसी भी पौराणिक ने किसी भी युग में की हो। इतिहास-पुराण की जो मूलसंहिता थी वह ग्रंथरचना की परम्परा के आगे बढ़ जाने पर भी मूलबीज रूप में आगे के ग्रंथों को प्रभावित और नियंत्रित करती रही। संभवतः इसलिये भी पुराणों के नामकरण की शैली नहीं बदली। हरेक पुराण में वही सूतजी, वही नैमिषारण्य, वही कुलपति शौनक और वही उनके साथी श्रोतागण— इस मूल ढाँचे के भीतर सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच विषयों को बीजरूप में रखकर फिर किसी भी पुराण का चाहे जितना उपबृंहण किया जा सकता था। एक एक पुराण की छानबीन करने से ऐसा मिलता भी है।

इस समय प्राप्त होने वाले पुराण अट्ठारह हैं—

(१) मत्स्य, (२) मार्कण्डेय, (३) भविष्य, (४) भागवत, (५) ब्रह्माण्ड, (६) ब्रह्मवैवर्त (७) ब्राह्म, (८) अग्नि, (९) वायु, (१०) विष्णु, (११) स्कन्द, (१२) गरुड़, (१३) लिंग, (१४) कूर्म, (१५) वामन, (१६) वराह, (१७) नारद (१८) पद्म।

परिमाण—पुराणों का सम्पूर्ण साहित्य मिलाकर चार लाख श्लोकों के बराबर है।

इन अट्ठारह पुराणों के साथ अट्ठारह उपपुराण भी हैं।

वर्ण्य विषय—पुराणों की प्राचीन या मूल भूत संहिता के लिये कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

अर्थात् सर्ग, प्रतिसर्ग वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन पाँच लक्षणों वाला ग्रंथ पुराण है। सर्ग का अर्थ है सृष्टि की उत्पत्ति, प्रतिसर्ग सृष्टि के विस्तार के बाद फिर प्रलय और फिर उत्पत्ति को कहते है। वंश से तात्पर्य है ऋषिवंश एवं देववंशों की परम्पराएं और उनकी कथाएं। मन्वन्तर से संसार के काल विभाजन और वंशानुचरित का तात्पर्य है विविध राजवंशों के प्रतापी वीरों एवं सम्राटों के कर्म और यशोगान।

आगे उनमें वृद्धि हुई और इन नए विषयों पर बहुत सी नई सामग्री की रचना हुई—व्रत, उपवास, दान, तीर्थ यात्रा, स्थल माहात्म्य, भक्तों के चरित, अवतार, लीलाएँ, वर्णाश्रम धर्म, देवों का माहात्म्य, स्तोत्र, सहस्र नाम, मन्दिर निर्माण, पूजाविधि, विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न साधनाएँ, प्रायश्चित, कर्मफल, भुवनकोष इत्यादि। इन सब विषयों का इतना विशद और ब्यौरेवार वर्णन पुराणों में है कि पुराण सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक सामग्री के विश्वकोष ही हो गए।

शुंगकाल में भागवतों के प्रभाव से जिस नवीन धार्मिक चेतना का प्रारम्भ हुआ और क्रमशः लगभग छः सौ वर्षों तक बढ़ते हुए

गुप्तकाल में जो आन्दोलन पूर्णता को प्राप्त हुआ उसी के फलस्वरूप वस्तुतः पुराणों के मुख्य अंशों की रचना हुई। पुराणों के अध्ययन से हमें जिस धार्मिक और सामाजिक चेतना का ज्ञान होता है उसे ही हिन्दू धर्म एवं हिन्दू समाज कहा जाता है।

समन्वयप्रधान धर्म—पुराणों की सबसे बड़ी विशेषता उनका समन्वय प्रधान धर्म है। प्राचीन वैदिक युग में भी धर्म और ज्ञान अलग अलग रहे। ब्राह्मणों के कठोर नियमों को पालन करके यज्ञादि कर्मकाण्ड करने वाले व्यक्ति अपने कर्मकाण्ड से आगे नहीं सोचते थे। ब्रह्म के गहन चिन्तन में लगा हुआ और सृष्टि की गुत्थियाँ सुलझाने वाला जिज्ञासु शुष्क कर्मकाण्ड में रुचि नहीं लेता था। इसका अच्छा उदाहरण कठ उपनिषद् में नचिकेता का है। पुराणकारों ने ब्रह्मविद्या को और सृष्टि की गुत्थियों को सरलरूप में रखा और यज्ञीय कर्मकाण्ड के साथ सरल भक्ति को लाकर दोनों को व्यक्ति के श्रेय के लिए एकसा बताया। इस स्थिति से दोनों ही विचारधारा के विद्वान् सरलता से एक मध्य मार्ग को अपना सकते थे।

वैदिक युग में एक बड़े देव समूह को प्रसन्न करने के लिए बहुत से यज्ञ किये जाते थे। इन यज्ञों के व्यय और कठोर कर्मकाण्ड ने इनके प्रति जनसाधारण की रुचि मन्द कर दी।

पुराणकारों ने जनसाधारण के हृदय में स्थान बना लेनेवाले वैदिक देवताओं को लिया और उनके साथ राम, देवकी पुत्र कृष्ण, लोकल्याणकारी शिव, दुष्ट राक्षसों का वध करने वाली दुर्गा इत्यादि विभिन्न देवी देवता ले लिए। इनमें अधिकांश लोक विश्वास और लोकरुचि का प्रतिनिधित्व करते थे। इस सारे देवमण्डल को प्रसन्न करने की सरल पद्धति मूर्तिपूजा के रूप में निकाली। इष्टदेव मूर्तिमान हों, पूजा सरल हो, आडम्बरहीन हो, उसमें एकत्र की हुई सामग्री से

मन की शुद्धि तथा भक्ति हो, और इष्टदेव सरलता से प्रसन्न हो सकें—इस प्राकार की पूजा भारतीय जनमानस में शीघ्र ही व्यात हो गई। आज भी यही पूजापद्धति हिन्दूधर्म का प्रमुख अंग है।

वैदिक तथा उपनिषद् काल में तो कर्म की महिमा रही। परन्तु बौद्धों और जैनों ने कर्म या श्रम की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का पहुँचाया। जो बौद्ध भिक्षु हो गया वह आसानी से अर्हत या जीवन्मुक्त ज्ञानी हो गया। उसे फिर कोई कर्म करने की आवश्यकता न रही। बड़े बड़े मठ और विहार मौज मारने के लिये और श्रम से कमर दुहरी करने वाले गृहस्थ को उपदेश देने के स्थान बन गए। यही कथन जैनों का था—संसार मिथ्या है और सब कर्म बेकार है। इस सबसे एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। गृहस्थ अपने कर्त्तव्यकर्म को छोड़ नहीं सकता था पर कर्म की हीनता का उपदेश उसके कान में बराबर डाला जाता था। वह क्या करे? वह इन धर्मगुरु या मुनियों पर अपने कल्याण के लिए निर्भर था। पौराणिक धर्म ने इन दोनों का समन्वय करके नया रूप दिया। इसे वे भुक्ति और मुक्ति का मेल कहते थे। जीवन के कर्त्तव्य भी मनुष्य के लिये उतने ही आवश्यक हैं जितना ज्ञान। उत्तम ज्ञान और विद्या को जो व्यक्ति श्रेष्ठ कर्म और दानपुण्य आदि से अपने जीवन में उतार ले वह उतना ही मोक्ष का अधिकारी है जितना और कोई। ज्ञान और कर्म दोनों से परिपूर्ण जीवन की उत्तमता के इस सरल और सबल आदर्श ने जीवन की काया पलट दी। भारत के धार्मिक आकाश का नेतृत्व और विजय पुराण धर्म के हाथ रही। जो धर्म अपने आपको पुराण धर्म के आदर्श पर न ढाल सके वे खेत रहे।

एक बड़ा कार्य पौराणिकों ने किया, वह था विष्णु के स्वरूप में सब देवों का समन्वय। विष्णु विराट पुरुष हैं। उनमें सब देव

शरण पाते हैं। विष्णु चराचर सृष्टि के सब जीवों के चाहे वे देव हों, चाहे दानव हों या मनुष्य अथवा और कोई, रक्षक, पालक और मुक्तिदाता हैं। वैदिक काल के बहुत से देवताओं को मिलाकर पुराण पुरुष भगवान विष्णु की कल्पना की गई। यह सृष्टि उनकी माया है। जितने भी देवता हैं विष्णु की विभिन्न लीलाओं के अंग हैं और उनके विभिन्न अंश से उत्पन्न हुए हैं। उनके दस अवतारों की कल्पना की गई जिनमें उन्होंने दुष्टों का संहार करने के लिये पृथ्वी पर जन्म लिया। सब देवों की शताब्जमाला के अन्तर्यामी सूत्र विष्णु हुए। हैं! समय समय पर मिले हुए देवी देवता और आर्येतर विश्वास तथा प्रतीक ये सब एक सूत्र में पिरोये जा सकें, इसलिए विष्णु के व्यक्तित्व का यह विकास हुआ। इसमें सफलता भी मिली। अन्त में बुद्ध को भी नवें अवतार के रूप में विष्णु के विशाल परिवार में जोड़ लिया गया। शिव को भी विष्णु के साथ मिलाकर प्रतिमाएं गुप्तकाल में बनाई गई जिन्हें हरिहर मूर्ति कहते हैं। महाविष्णु की प्रतिमा भी जिसमें विष्णु के सब अवतारों के साथ सब देवों को प्रदर्शित किया गया उसी समय बनी। ये देव मूर्तियां उस काल के समन्वय प्रधान-विचारों के स्थूल प्रतीक बनकर जनता के सामने आई।

धर्म का यज्ञीय कर्मकाण्ड तथा गहन ब्रह्मज्ञान दोनों ही अत्युच्च धरातल की वस्तुएँ थीं। साथ ही कुछ विश्वासों के कारण ये सब द्विजातियों और पुरुषों के लिए ही थे। इस काल के धर्म ने जिस प्रवृत्ति को अपनाया उसका दिग्दर्शन गीता के इस वाक्य से होता है—'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।'

इस उत्तम गतिको प्राप्त करने के लिये ही व्रत, उपवास, दान, तीर्थ, मूर्तिपूजा, जप, नामसंकीर्तन, कथा-वर्त्ता इत्यादि नए-नए धार्मिक विधानों का प्रचलन हुआ।

गृहस्थ धर्म को जो स्थान मिलना चाहिए था वह नहीं मिल पा रहा था। विशेष रूप से बौद्धों के प्रभाव से सामाजिक जीवन में गृहस्थ का मान गिर गया था। जो भी मुंडित मस्तक भिक्षु हो जाए गृहस्थ के लिये पूज्य हो जाता था। सामाजिक जीवन की इस आस्था से वस्तुतः बहुत हानि हुई। धर्म जीवन के कर्त्तव्य कर्म में सहायक न होकर बाधक हो गया। वस्तुतः सबसे पहले मनु ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। उनका मत था कि आश्रमों में गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है। अन्य सब आश्रम गृहस्थ के ही आधार पर आश्रित हैं। पुराणों ने इस मान्यता को बहुत दृढ़ किया और सद्गृहस्थ का भी उत्तम स्थान माना गया जितना कि संसार त्यागी परिव्राजक का हो सकता था। गुप्तकाल की जागरूकता, सदाचरण की महत्ता, सब पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम) को पूर्ण रस के साथ जीवन में स्थान देने की प्रवृत्ति इन सब की जड़ में गृहस्थ धर्म की पुनः प्रतिष्ठा ही है। गृहस्थ के लिये अतिथिसत्कार, सत्पात्र को दान, कर्त्तव्य पालन और सब प्राणियों पर दया करना, इत्यादि धर्म के प्रमुख अंग थे।

अन्तिम विशिष्ट बात हमें पुराणों से यह पता लगती है कि भक्ति ही मनुष्य मात्र के कल्याण का एकमात्र उपाय है। गीता के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' वाक्य में भक्ति की सर्वप्रथम गूँज है। पुराणकार भी इस मत में विश्वास रखते हैं। वस्तुतः एक गृहस्थ के लिये यह कठिन है कि वह अपने जीवन का कर्तव्य पूरा करे और ज्ञान तथा धर्म की जटिल गुत्थियों को भी सुलझा सके।

यदि वह अपना कर्तव्य कर्म पूरी सच्चाई से करता है तो सबसे अच्छा यही है कि वह किसी एक स्थान पर अपनी एकनिष्ठ श्रद्धा और विश्वास अर्पित कर दे। अपने विश्वास के केन्द्रबिन्दु पर जमकर वह कितना भी करेगा और आगे बढ़ेगा उसका संन्तुलन नहीं बिगड़ेगा क्योंकि उसका केन्द्र स्थिर है। संसार के करीब करीब सब

धर्म इस प्रवृत्ति में विश्वास करते हैं। अन्त में इधर उधर भटककर जैसे मानव अपने गृह में शान्ति और आश्रय पाता है वैसे ही उसका भक्तिरूपी आश्रय सब प्रकार के भूलने और भटकने के बाद भी शान्ति तथा मानसिक सन्तुलन देता है।

महान् पुराण धर्म को एक शब्द में समझना चाहें तो कह सकते हैं कि यह गृहस्थों का धर्म है अथवा यह भुक्ति मुक्ति प्रद धर्म है। गणित की भाषा में कहें तो पुराण धर्म को लोक के सब धर्मों और जीवन विधियों का लघुत्तम समापवर्त्य (एल० सी० एम०) कह सकते हैं। उस दर्पण में सब की झाँकी अपनाई गई है।

अध्याय ४

भारतीय षड्दर्शन

प्रकृति की कृपा से भारतीय जन की भौतिक आवश्यकताएं बड़ी सरलता से पूरी हो जाती हैं। भौतिक चिन्ता से मुक्त भारतीय मानस सदैव अपने सृष्टिकर्ता तथा उसके व्यक्त एवं अव्यक्त रूपों को जानने और समझने में प्रारंभ ही से लगा रहा है। इस रहस्य के खोजने और समझने के मार्ग को दर्शन कहा गया है।

भारतीय दर्शन का दीर्घकालीन इतिहास ऋग्वेद से आरंभ होता है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त, अस्यवामीय सूक्त, पुरुषसूक्त आदि सूक्तों में अत्यंत मौलिक दार्शनिक विचार पाए जाते हैं।

नासदीय सूक्त का ऋषि साहसपूर्ण चिन्तन में बहुत ही आगे बढ़ कर पूछता है, "आरंभ में न सत् था, न असत् था; न रात्रि थी, न दिन था; न मृत्यु थी, न अमृत था; न परमाणु थे, न व्योम था। वह एक तत्व अपनी ही शक्ति से प्राण-व्यापार कर रहा था। उससे परे कुछ नहीं था। तम से ढका हुआ सब कुछ तम ही था। उस अवस्था को कौन जानता है? देवता भी उस समय नहीं थे, वे पीछे उत्पन्न हुए, अतएव उसके विषय में कुछ नहीं कह सकते। इस सृष्टि का जो अध्यक्ष है, वह भी इसके सारे रहस्य को जानता है या नहीं जानता, कौन जाने ?" नासदीय सूक्त की यह विचारधारा सच्चे अर्थों में भारतीय दर्शन का मूलबीज सामने रखती है। एक मंत्र में ऋषि पूछता है, "कौन सा वह वन था और कौन सा वह वृक्ष था, जिसे गढ़-छीलकर विश्वकर्मा ने धरती और आकाश बनाए ?" फिर उसका उत्तर यों देता है, "ब्रह्म ही वह वन था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था, जिसे

गढ़ छीलकर धरती और आकाश बनाए।" इस प्रकार विचारों का जो मंथन शुरू हुआ वह बराबर बढ़ता रहा।

वैदिक दर्शन की सबसे बड़ी विजय उस नियम का परिज्ञान था जो सारी सृष्टि में पिरोया हुआ उसे चला रहा है। उसे वे लोग ऋत कहते थे। दूर से दूर और निकट से निकट के और छोटे से छोटे तथा बड़े से बड़े हरेक पदार्थ में ऋत या सृष्टि का अखंड नियम व्याप्त है। इसी नियम का रूप यह था कि जैसा ब्रह्मांड में है वही पिण्ड में है, या जैसा पिंड में है वही ब्रह्मांड में है (यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे)। भारतीय धर्म और दर्शन की जितनी भी मान्यताएं हैं उन सबका वैज्ञानिक उद्भव इस निर्णय से हुआ है।

ऋग्वेद में जो सृष्टि विषयक ज्ञान था उसके तीन रूप माने गए हैं—अधिभूत, अध्यात्म, अधिदैवत। ये तीनों एक दूसरे से मिले हुए रहते हैं। इन्हीं को समझने के लिए यज्ञों का विधान किया गया। समय पाकर कर्मकांड की बहुत वृद्धि हुई जिसका वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में पाया जाता है। फिर लोगों को केवल कर्मकांड से सन्तोष न हुआ। वे ब्रह्म और आत्मा के विषय में जिज्ञासा करने लगे। आरण्यक और उपनिषदों में इसी स्थिति का वर्णन है।

उपनिषदों का मूल दृष्टिकोण है कि आत्मा और ब्रह्म एक है। इसे ही 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'तत्वमसि' दो सूत्रों में कहा गया है। उपनिषदों का दूसरा सारांश है 'आत्मानं विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो। 'आदि और अंत में आत्मा ही जानने योग्य है।' 'आत्मा को जानने से ही मनुष्य का शोक मिटता है।' ये सब सत्य ऐसे हैं जैसे दही से मथकर मक्खन निकाला गया हो। बाद के कई आस्तिक दर्शनों ने उपनिषदों के इस दृष्टिकोण को स्वीकार किया।

भारतीय दर्शन के इतिहास में दो युग अलग अलग पहचाने जा

सकते हैं। पहले युग में जिसमें उपनिषद् भी आते हैं, विभिन्न प्रश्नों पर दार्शनिकों के अलग अलग विचार हैं; जैसे याज्ञवल्क्य, जनक या श्वेतकेतु किसी एक प्रश्न को लेकर उस पर अपने विचार प्रकट करते हैं। यूनानी दर्शन के इतिहास में भी सुकरात और पाइथोगोरस के समय में ऐसा ही था। अपने यहां महाभारत के शान्तिपर्व में ऐसे बहुत से विचारक और उनके दृष्टिकोणों का परिचय दिया गया है। एक ढंगके विचार या दृष्टिकोण उस समय मति या दृष्टि कहते थे। उसी को बौद्ध और जैन ग्रन्थों में दिटिठ कहा गया है। वहां ऐसी कई सौ दि्टिठयों का संग्रह एवं उल्लेख मिलता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इनमें से कुछ वादों या दृष्टियों को इस प्रकार गिनाया है—कालवाद, स्वभाववाद्, नियतिवाद, यदृच्छावाद (यह सृष्टि इत्तिफाक (चांस) से बन गई), पुरुषवाद, आत्मवाद, ब्रह्मवाद इत्यादि।

दर्शन के इतिहास में दूसरा युग ५०० ई० पू० के लगभग शुरू हुआ जब प्रकृति, पुरुष, जीव, आदि के सम्बन्ध में क्रमबद्ध दर्शनिक ग्रंथों की रचना हुई। जिन्हें हम अस्तिक षड्दर्शन कहते हैं वे इसी युगके हैं। इनमें संगृहीत मूल विचारों का आरंभ बहुत पूर्व हो गया था, पर उनका क्रमबद्ध विवेचन सूत्रयुग में हुआ। इसीलिए छहों दर्शन सूत्र शैली में हैं। इनके नाम ये हैं: १ जैमिनि का मीमांसा दर्शन; २. वेदव्यास का वेदान्त दर्शन; ३. कपिल का सांख्यदर्शन; ४. पतंजलि का योगदर्शन; ५. गौतम का न्याय दर्शन; तथा ५. कणाद का वैशेषिक दर्शन।

इन छहों दर्शनों की रचना के लगभग पांच सौ वर्ष बाद भारतीय दर्शन के इतिहास ने फिर पलटा खाया। अबकी बार नए दर्शन ग्रंथों की रचना न होकर लोग इन्हीं पर भाष्य लिख कर

अपने विचारों का प्रतिपादन करने लगे। फिर भाष्यों पर टीकाएं और टीकाओं पर टीकाएं बनती चली गयीं। यों प्रत्येक दर्शन का लम्बा चौड़ा साहित्य तैयार हो गया। ईसवी सन् के आरम्भ से प्रायः आठ सौ वर्षों का समय भाष्यों का युग कहा जा सकता है। उसके बाद फिर टीकाओं का और विवेचनात्मक ग्रंथों का सिलसिला शुरू हुआ जो प्रायः एक सहस्र वर्ष तक जारी रहा।

आस्तिक या वैदिक दर्शनों के अतिरिक्त वैदिक विचारों की परिधि से बाहर भी दर्शनों की रचना हुई। इन्हें नास्तिक दर्शन कहा गया है। ईश्वर है, इस विचार के दर्शन आस्तिक, और ईश्वर नहीं है इस विचार के दर्शन नास्तिक कहलाए। नास्तिक दर्शन के तीन मुख्य भेद हैं—बौद्ध, जैन और चार्वाक।

बौद्ध दर्शन का आरंभ भगवान् बुद्ध से माना जाता है, यद्यपि उसका विस्तृत विकास ईस्वी सन् के आसपास शुरू हुआ जब कि नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग आदि उच्च कोटि के महायान दार्शनिक हुए।

अनुश्रुति के अनुसार जैनधर्म अत्यंत प्राचीन काल में भरत चक्रवर्ती द्वारा स्थापित हुआ था। पहले जिनकी परंपरा में अन्य तेईस तीर्थंकर समय समय पर हुए। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्व तथा अन्तिम महावीर ऐतिहासिक पुरुष थे। पार्श्व से स्वतंत्र मत का प्रारंभ हुआ। महावीर ने उनके विचारों को अपने अनुकूल ढालकर जैन मत को जन्म दिया। जैनधर्म की दार्शनिक परम्परा का विकसित रूप भी ईसवी सन के आसपास ही मिलने लगता है। उसका परिपक्व रूप सिद्धसेन दिवाकर, उमास्वाति, हरिभद्र, हेमचन्द्र आदि विचारकों के ग्रंथों में पाया जाता है।

चार्वाक मत अपने ढंग का अनोखा है। उसके प्राचीनतम

आचार्य बृहस्पति ने आकर्षक वाणी में अपने मत का व्याख्यान करने के कारण इन्ही की संज्ञा चार्वाक हुई। चार्वाक मत के सिद्धांत हमें विभिन्न ग्रंथों में उद्धृत मिलते हैं। चार्वाकों का पुराना नाम लोकायत या लोकायतिक था। इस दर्शन का किसी समय जनता में बहुत प्रचार था और इनके सिद्धान्त भी अच्छे थे। ये प्रत्यक्ष जीवन को सच्चा मानकर उसे ही सुधारने के पक्षपाती थे। मोक्ष या परलोक को नहीं मानते थे। बाद में ये बदनाम हो गए तो 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' उक्ति इन्हीं के सिर मढ दी गई।

छः आस्तिक दर्शन इस प्रकार हैं:—

(१) **मीमांसा**—मीमांसा शास्त्र का विषय वैदिक कर्मकांड का विचार है। मीमांसकों का मत है, वेद यज्ञीय कर्मकांड के लिये हैं। वैदिक कर्मकांड ही भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए एक मात्र उपाय है।

इस दर्शन की मान्यता है कि वेद में कहे हुए यज्ञीय कर्म के करने से एक ऐसा पुण्य फल उत्पन्न होता है जो पहले नहीं था। इसे अपूर्व कहा गया है। यह अपूर्व फल ही धर्म है। मीमांसा दर्शन का मुख्य ध्येय इस धर्म के विषय में छानबीन करना है। इसलिये इस दर्शन का पहला प्रतिज्ञासूत्र है, 'अथातो धर्म जिज्ञासा' अर्थात् अब धर्म की जिज्ञासा आरंभ होती है। इस जिज्ञासा के फलस्वरूप ही इस दर्शन का जन्म और विस्तार हुआ।

मीमांसकों का मत है कि वेद नित्य और ईश्वर के रचे हुए हैं। वे स्वतः प्रमाण हैं। धर्म या अपूर्व का फल दो प्रकार का है, दृष्ट और अदृष्ट। एक वह है जिसका फल इसी संसार में प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और दूसरा वह है जिसका फल स्वर्गादिक के रूपमें प्राप्त होता है। सिद्धान्त है कि दृष्ट फल के सामने अदृष्ट फल की कल्पना

कभी न करनी चाहिए। इस दृष्टिकोण से यजमान का इहलौकिक या प्रत्यक्ष जीवन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

मीमांसा के मूल सूत्र जैमिनि ने बनाए। उन पर शबरस्वामी ने भाष्य की रचना की। अपने देश में कुमारिल भट्ट बहुत बड़े मीमांसक आठवीं शती में हुए हैं। उन्होंने श्लोकवार्त्तिक और तंत्रवार्त्तिक नामक ग्रंथ लिखे।

(२) वेदान्तः—वेदान्त दर्शन का मूलाधार वेदों का ज्ञानकांड और उपनिषद् हैं। व्यास के वेदान्त सूत्र उपनिषदों के ज्ञान की अनुक्रमणी ही हैं। गीता को भी उसकी ब्रह्म विद्या के कारण उपनिषद् कहा गया है।

वैदिक दर्शन में ही सब से पूर्व ब्रह्मांड व्यापी एकत्व का विचार हुआ था। ब्रह्मांड के नियामक अखंड नियम का नाम ऋत था।

इस ऋत का अधिष्ठाता ब्रह्म है। ब्रह्म से ही यह सृष्टि बनी है। ब्रह्म को ही आधार मानकर दर्शन का क्रम आगे बढ़ा जिसका पूरा विकास उपनिषदों में हुआ। उपनिषदों का ज्ञान ब्रह्म विद्या कहलाता है।

इस विश्व की शक्तियां देवता हैं। इन देवों का अन्तर्भाव ब्रह्म में है। 'ब्रह्म एक है', 'उसे श्रेष्ठ वेदवेत्ता एक कहते हैं'। 'ब्रह्म एक ही है इससे दूसरा कुछ नहीं' (एकमेवाद्वितीयम्)। वेद के पुरुष सूक्त में इसे ही पुरुष कहा गया है। उपनिषदों में पुरुष को ही ईश कहा है (ईशावास्यं इदं सर्वम्)। वह ईश सारे जगत् में व्यापक है—यह सिद्धांत उपनिषद युग की बहुत बड़ी खोज थी। वे मानते थे कि ईश से ही यह ब्रह्मचक्र या सृष्टिक्रम चल रहा है।

जो देव या ईश इस ब्रह्मचक्र को चला रहा है उसकी महिमा को उपनिषद् के ऋषियों ने देवात्म शक्ति कहा है, अर्थात् ब्रह्मांड व्यापी

देव की अपनी शक्ति। इसी का नाम प्रकृति है। अपने सत्व, रज और तम गुणों से युक्त प्रकृति ईश से अनुशासित और नियंत्रित होकर अपना काम कर रही है। उपनिषदों में पुरुष को अज और प्रकृति को अजा कहा है। उनकी दृष्टि में दोनों ही जन्म रहित हैं।

वेदान्त का दृष्टिकोण यह है कि ईश्वर ही जगत् का बनाने वाला या निमित्त कारण है। जिस प्रकृति से यह जगत् बनता है वह उपादान कारण भी ईश्वर ही है। पुरुष और प्रकृति दोनों ब्रह्म में एक हो जाते हैं। फिर प्रश्न यह हुआ कि उस ब्रह्म का हमसे क्या संबंध है? वेदान्त इसका उत्तर देता है कि जो आत्मा है वही ब्रह्म है।

आत्मा और ब्रह्म की एकता की स्थापना करना उपनिषदों और वेदान्त दर्शन का सबसे बड़ा कार्य था। "अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं।" यह वेदान्त दर्शन का मूल मंत्र है। ब्रह्मज्ञानी गुरु शिष्य को उपदेश देता है—"तत्त्वमसि"—तुम तत् (वही) अर्थात् ब्रह्म हो। आरुणिक उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को यही सबसे ऊंचा ज्ञान सिखाया।

आत्मा को जानने के दो उपाय कहे गए हैं। एक देव या ईश्वर की कृपा से आत्मा जिसको अपना पात्र स्वयं चुन ले। दूसरा तप या योग साधना से। कहा है कि तप और श्रद्धा को धारण करके जो वन में निवास करते हैं उन्हें ही आत्मदर्शन होता है। संभवतः इसीलिए उत्तर काल में संन्यास पर या संसार त्याग पर बहुत बल दिया जाने लगा। शंकराचार्य ने आत्म ज्ञान के लिए जाति, वर्ण, कुल आदि का कोई प्रतिबन्ध नहीं माना।

वेदान्त दर्शन का पहला सूत्र है—"अथातो ब्रह्म जिज्ञासा।" जिसमें ब्रह्मकी जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है वही इस दर्शन में प्रवेश करने का अधिकारी है। वेदान्त का फल मानव मात्र में उसी एक

आत्मतत्त्व का दर्शन करना है। न केवल मानव बल्कि प्राणिमात्र में समभाव रखना वेदान्त का फल है।

मूल साहित्य--वेदों का ज्ञान कांड, उससे पल्लवित हुआ उपनिषद् साहित्य, उपनिषदों के सार को सूत्र रूप में देने वाले व्यास के वेदान्त-सूत्र, और सरल रूप में उदाहरणों के साथ इस ज्ञान को सुलभ करने वाला ग्रंथ श्रीमद्भगवद्गीता—यह वेदान्त का मूल साहित्य है।

शंकराचार्य ने वेदान्त को एक समर्थ संप्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित किया। शंकर ने वेदान्त सूत्रों, उपनिषदों और गीता पर भाष्य लिखे। रामानुज, वल्लभ, मध्व, निम्बर्क आदि आचार्यों के भाष्य भी वेदान्त सूत्रों पर मिलते हैं।

(३) सांख्य दर्शन--भारतीय परम्परा में सबसे प्राचीन आधारभूत दर्शन सांख्य ही है। सांख्य का उद्देश्य सृष्टि रचना की व्याख्या करना है। सब सृष्टि का प्रधान तत्त्व प्रकृति है। वह अनादि और अनन्त है।

सृष्टि का भौतिक स्वरूप सांख्य के अनुसार तीन वस्तुओं से बना है, १. स्थूल रूप जिसमें पंचभूत से निर्मित दिखाई देने वाला संसार है। २. सूक्ष्म रूप जो पांच तन्मात्राओं, अहंकार और महतत्त्व से मिलकर बना है। ३. सृष्टि का कारण जो प्रकृति की साम्यावस्था है।

प्रकृतिकी दो अवस्थाएं कही गई हैं, साम्यावस्था और त्रिगुणात्मिका। साम्यावस्था में प्रकृति की वह स्थिति है जिसमें वह अव्यक्त रहती है। दूसरी स्थिति में प्रकृति तीन गुणों—सत्व, रज और तम, से संयुक्त होकर अपने व्यक्त रूपमें आती है। उसी का नाम सृष्टि है। सांख्य दर्शन की मुख्य विशेषता यह है कि यह सत् से ही सत् की

सृष्टि मानता है। इसके मत में असत् या नास्ति से सत् या अस्ति तत्त्व कभी उत्पन्न नहीं हो सकता।

सांख्य के दो भेद किये गए हैं, एक सेश्वर सांख्य और दूसरा निरीश्वर सांख्य। सेश्वर सांख्य में प्रकृति के ऊपर पुरुष को मानते हैं। उनके अनुसार प्रकृति उस अविकारी ज्ञाता (जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और जो सब ज्ञान को जानने वाला है) पुरुष के सामने नटी के रूपमें नृत्य करती है और समय समय पर सृष्टि के रूपमें व्यक्त होती है। निरीश्वर सांख्य वाले प्रकृति को ही प्रधान तत्व मानते हैं।

पुरुष के दो रूप कहे गए हैं, १. ईश, अर्थात् सृष्टि का अधिष्ठाता जिसमें कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। २. अनीश, अर्थात् जीव। जीव अनंत हैं और प्रकृति के सत्त्व, रज, तम तीन गुणों से बंधे हुए हैं। इन तीन गुणों के बन्धन से जीव का अलग होना ही मुक्ति है।

कपिल मुनि का सांख्य दर्शन सबसे प्राचीन ग्रंथ है। इसमें पांच सौ से कुछ ऊपर सूत्रों में सांख्य का क्रमबद्ध विवेचन किया गया है। इस दर्शन में २४ प्रधान तत्त्वों का विचार है। ये इस प्रकार हैं— प्रकृति, महत्तत्त्व (बुद्धि), अहंकार, पांच तन्मात्रा, पांच महाभूत, मन और दस इन्द्रियां। इनके अतिरिक्त पचीसवाँ पुरुष है। कपिलके बाद सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्य आसुरि, पंचशिख और जैगीषव्य हुए। जैगीषव्य ने नैतिक और आधात्मिक गुणों की साधना पर बहुत बल दिया।

सांख्य के एक प्रमुख आचार्य ईश्वर कृष्ण हैं। इनका ग्रंथ सांख्य-सप्तति मिलताहै जिसमें सत्तर कारिकाएं हैं। इस ग्रंथ का सांख्य दर्शन में बड़ा मान है।

(४) योगदर्शन— योगदर्शन को सूत्र रूपमें क्रमबद्ध करने वाले आचार्य महर्षि पतंजलि हैं।

योग एक प्राचीन विद्या है। उपनिषदों में कहा है कि अध्यात्म साधना की पद्धति ही योग विद्या है।

योग एक आस्तिक दर्शन है और इसमें ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। काल, कर्म और गुण तीनों से अछूता जो पुरुष विशेष है उसी को इश्वर कहा है।

योग वाले सृष्टिविद्या में सांख्य को आधार मानते हैं। पर उसके साथ ये लोग ईश्वर को अवश्य मानते हैं।

योग की परिभाषा इस प्रकार की गई है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करना ही योग है।

योग के आठ अंग हैं। इसीलिये इसे अष्टांग योग (आठ अंगों वाला योग) कहते हैं।

आठ अंग— १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, और ८. समाधि। इनमें पहले चार योग के स्थूल अंग हैं अर्थात् शरीर की साधना से सम्बन्ध रखते हैं। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये चार, योग को सूक्ष्म साधना के अंग हैं। इनका विशेष कार्य मन की साधना करना है।

१. यम पांच हैं, अहिंसा (जीव हत्या न करना), सत्य, अस्तेय (चोरी, न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (त्याग)।

२. नियम पांच हैं, शौच (शरीर शुद्धि), तप, संतोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में श्रद्धा)।

३. आसन, शरीर और मन को स्वस्थ और एकाग्र रखने वाली क्रियाएं हैं।

४. प्राणायाम, श्वास और प्रश्वास का नियम है।

५. प्रत्याहार, सब प्रकार के विषयों से मन व इन्द्रियों को हटाना है।

६. धारणा, चित्त का एक स्थान पर एकाग्र करना है।

७. ध्यान, एकाग्र चिन्तन को ध्यान कहते हैं।

८. समाधि, ध्यान की अन्तिम अवस्था समाधि है। इसके दो भेद हैं, सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प समाधि की स्थिति में समाधिकर्ता को अपने अस्तित्व का भान रहता है। निर्विकल्प समाधि में साधक को इस प्रकार का भान भी नहीं रह जाता।

आगे चल कर योग की दो धाराएं हो गईं, राजयोग व हठयोग। राजयोग में ध्यान प्रमुख है और मन को एकाग्रता से समाधि तक पहुंचाया जाता है। इसके एक अंग ध्यान पर बौद्धों ने भी विशेष महत्त्व दिया। वे इसे 'झान' (ध्यान) कहते हैं। इसी से चीन जापान का ध्यान धर्म या 'ज़ेन' बुद्धिज्म निकला।

हठयोग में शरीर की साधना और आसन प्राणयाम की क्रियाएं मुख्य हैं। आगे चल कर इसी में चक्र साधना, कुंडलिनी को जाग्रत करना आदि का विकास हुआ। हठयोगी को ही प्रायः योगी माने जाने लगा। इसमें तरह तरह के आसन, साधन बढ़े और सिद्धियां आ गईं।

(५) न्यायदर्शन—न्याय प्रमाणशास्त्र (अं० डाइलेक्टिक्स) है।

उपनिषदों के समय और सूत्रयुग में विचार के लिये शास्त्रार्थ पद्धति चल पड़ी थी। वाद-विवाद के लिये एक प्रमाणशास्त्र की आवश्यकता का अनुभव हुआ। किसी वस्तु के तत्त्व का विचार और निर्णय करने का प्रमुख साधन बुद्धि (रीज़न) थी। इस वास्ते वस्तु

की सिद्धि के लिये एक नियमित हेतुवाद की आवश्यकता हुई। उसी दर्शन का नाम न्यायदर्शन हुआ।

ईसवी प्रथम शताब्दी के बाद न्याय में हेतुवाद ने एक नया जोर पकड़ा। बौद्ध और जैन दार्शनिकों ने भी प्रमाणवाद को शास्त्र के रूप में लिया। भारतीय विचारकों ने बड़े परिश्रम से तर्क और प्रमाणों पर नई धार रक्खी और बुद्धि पर आश्रित सूक्ष्म हेतुवाद की बहुत वृद्धि की।

न्याय वस्तुतः तर्क पद्धति है। उनके दर्शन का जो भाग है वह सांख्य पर आधारित है। न्याय के विचारक ईश्वर का अस्तित्व मानते हैं और ईश्वर को सृष्टि का आधार व कारण पूरे बल से सिद्ध करते हैं। इसीलिये इन लोगों को ऐश्वरकारणिक भी कहा जाता है। ये लोग प्रकृति और सृष्टि को ईश्वर से विकसित भौतिक स्वरूप और जीव को भी ईश्वर का अंश मानते हैं।

नैयायिक (न्यायशास्त्री) बड़े तर्कशास्त्री होते थे। ये लोग अपनी तर्क पद्धति से नास्तिकों के पैर उखाड़ने में प्रसिद्ध थे। नैयायिकों को 'ग्राह्यगिरः गुरवः' अर्थात् ऐसे गुरु लोग जो विपक्षी की जबान पकड़ लें, कहा जाता है।

न्याय का प्रमाणशास्त्र बहुत उत्तम है। प्रमाणों के द्वारा हम बुद्धि को निश्चयात्मक ज्ञान कराते हैं। प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

प्रत्यक्ष—उस प्रमाण को कहते हैं जो दिखाई पड़ रहा है अथवा इंद्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) से जाना जा सके।

अनुमान—जो अनुमान (अन्दाज) से होता है। जैसे धुवें के होने से अग्नि का अनुमान और मेघ से वृष्टि की संभावना का अनुमान।

उपमान—जो ज्ञान सादृश्य अथवा एक सा होने से हो। जैसे 'गौः इव गवयः' अर्थात् गाय के समान ही नील गाय (गवय) है।

शब्द—आप्त वाक्य का प्रमाण शब्द है। आप्त वे लोग हैं जिनकी बात झूठ नहीं होती। वे लोग अपने को धोखे में नहीं डालते हैं और न दूसरे को धोखा देते हैं। शब्द में वेद को नैयायिक सबसे बड़ा प्रमाण मानते हैं।

न्यायशास्त्र में ईमानदारी से यह प्रयत्न किया जाता है कि जो बात जैसी है बुद्धिपूर्वक प्रमाणों से वैसा ही सिद्ध किया जा सके। उदाहरण के लिये हम दूर खड़े हुए पहाड़ पर उठता हुआ धुआँ देखते हैं। तब हम समझ लेते हैं कि वहां पहाड़ पर आग है। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिये दूर से भी आग के वास्ते वहां जाने का परिश्रम करते हैं। धुएँ को देखकर आग का निश्चय करना यह बुद्धि पूर्वक निर्णय हजारों व्यक्तियों ने पहले किया है। इसमें कोई धोखा नहीं माना जाता, इसलिये हम भी वैसा निर्णय अपनी तर्कशक्ति से कर लेते हैं। ऐसे निश्चय पर पहुँचने के लिये हमारी बुद्धि इस प्रकार का तर्क करती है। इस तर्क का सबसे पहला अंग प्रतिज्ञा कहलाता है—जैसे 'पर्वतो वह्निमान,' पर्वत पर आग है। तर्क का दूसरा अंग हेतु या कारण कहलाता है, जैसे, 'धूमवत्वात्' अर्थात् पर्वत पर आग है क्योंकि वहाँ धुआँ है। इसके बाद तर्क का तीसरा अंग आता है। उसे व्याप्ति कहते हैं। व्याप्ति एक सामान्य नियम का विशेष उपयोग उपनय कहलाता है जो तर्क का चौथा अंग है। जैसे 'इदमपि तथा', यह भी वैसा ही है, अर्थात् इस स्थान में धुआँ है तो यहाँ भी आग होनी चाहिए। इतना जान लेने पर हमें यह निश्चय ज्ञान कर लेने में कोई बाधा नहीं रहती कि इस स्थान पर आग अवश्य है। इसे निगमन (निश्चय कर लेना) कहते हैं। तर्क शास्त्र की यह पंचांग पद्धति

समस्त भारतीय हेतु शास्त्र की जड़ है। इसी पर न्यायशास्त्र के सिद्धान्तों का ऊँचा महल बनाया गया है।

प्रमाण और तर्क दो प्रमुख विषयों के साथ न्याय में कुल सोलह विषयों पर विचार है। वे इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान।

गौतम ऋषि कृत न्यायसूत्र इस शास्त्र का प्रथम ग्रंथ है। न्यायसूत्रों पर वात्स्यायन ने भाष्य लिखा। उस पर उद्योतकर ने अपने वार्त्तिक बनाए। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्त्तिक तात्पर्य टीका लिखी। न्याय के ये प्रमुख ग्रंथ हैं।

(६) **वैशेषिक दर्शन**—भारतीय दर्शन में वैशेषिक आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा के अधिक निकट है। सूक्ष्म और स्थूल जगत के जितने पदार्थ हैं उनका विवेचन इस दर्शन में किया गया है। परमाणुवाद इसका मुख्य सिद्धान्त है। यह संसार परमाणुओं से बना है, ऐसा तर्क इस दर्शन में सिद्ध किया गया है। इसके कर्ता महर्षि कणाद थे। उनके नाम की व्याख्या इस प्रकार की जाती है—जो कणों का भक्षण करे अर्थात् जिसकी बुद्धि का आहार कण या परमाणु हैं।

वैशेषिकों के अनुसार संसार के सब पदार्थ सात हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) सामान्य, (५) विशेष, (६) समवाय और (७) अभाव।

(१) द्रव्य—वैशेषिक मत में जो वस्तु क्रियावान् और गुणवान् है, द्रव्य कहलाती है। द्रव्य नौ कहे गए हैं।

(१) पृथिवी—इसका गुण गन्ध है।

(२) जल—इसका गुण रस है।

(३) तेज या अग्नि—इसका गुण रूप है।

(४) वायु—इसका गुण स्पर्श है।

(५) आकाश—इसका गुण शब्द है।

(६) काल—पूर्व (पहले), पर (बाद), चिर (देर तक), क्षिप्र (शीघ्र), इत्यादि।

(७) दिक् (दिशा)—पूर्व, पश्चिम, आगे, पीछे आदि।

(८) आत्मा—जिसमें ज्ञान हो वह आत्मा है।

(९) मन—इन्द्रियों द्वारा बाहर का ज्ञान करनेवाला।

इन द्रव्यों में पृथिवी, जल, वायु और तेज अलग अलग परमाणुओं से बने हैं। इन द्रव्यों के आपस के सम्मिश्रण से संसार की वस्तुओं की रचना होती है। वैशेषिकों ने आकाश, काल और दिक् को भी द्रव्य माना है।

(२) गुण—वैशेषिकों ने सत्रह गुणों का उल्लेख किया था जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न।

बाद के व्याख्याकारों ने सात गुण और मिलाए हैं, जैसे गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, अदृष्ट, धर्म और अधर्म। शब्द भी एक गुण माना जाता है जो केवल आकाश में ही है।

गुणी अर्थात् द्रव्य के बिना गुण का कोई अलग अस्तित्व नहीं होता।

(३) कर्म—कर्म पाँच तरह के हैं, उत्क्षेपण (ऊपर उठना), अपक्षेण (नीचे जाना), आकुंचन (सिकुड़ना), प्रसारण (फैलना) और गमन (गतिशील होना)।

(४) सामान्य=जाति। वह जो एक होता है परन्तु अपनी तरह के बहुत सों में होता है और हर समय रहता है। जैसे, गौ

(गाय) में गोत्व (गो का भाव) और घट (घड़े) में घटत्व (घड़ापन) इत्यादि ।

(५) विशेष—अणु अवयवहीन होते हैं, उनमें भेद करनेवाली वस्तु विशेष है ।

(६) समवाय—गुण और द्रव्य, क्रिया या क्रियावान् एवं कार्य और कारण में जो सम्बन्ध है वह नित्य (सदैव एक सा) है । वही समवाय है ।

(७) अभाव—अभाव भी एक पदार्थ है । किसी वस्तु का न होना ही अभाव है ।

अत्यन्त स्थूलरूप प्रकृति का सबसे सूक्ष्म अंश परमाणु है । इस परमाणु या सूक्ष्म कण को ही वैशेषिक दर्शन की भाँति आधुनिक विज्ञान भी मानता है ।

वैशेषिक का सबसे प्राचीन ग्रन्थ महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र हैं । कणाद सूत्रों पर आचार्य प्रशस्तपाद ने भाष्य लिखा । इस भाष्य की कई टीकाएँ प्रसिद्ध हैं ।

अध्याय ५

बौद्ध तथा जैन धर्म

भारतवर्ष में छठीं शताब्दी ई० पू० के युग में लोग नये मार्गों को ढूँढ़ने के प्रयत्न में लगे थे। वैदिक परम्परा के अन्तर्गत उपनिषदों में नए विचारों की खोज कई शती पूर्व से आरम्भ हो गई थी। देश में कितने ही अन्य दार्शनिक स्वतन्त्र चिन्तन में लगे रहे थे। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ऐसे विचारक भी हुए जिनके मन में घोर प्रतिक्रिया की भावना थी। वैदिक परम्परा तथा दर्शन से इन लोगों के विचार नहीं मिलते थे। भारतीय परम्परा में इनको नास्तिक सम्प्रदाय कहा गया है। इनमें बौद्ध, जैन और चार्वाक प्रमुख थे। आजीवक नामक सम्प्रदाय के लोग जो नियतिवादी या भाग्य के माननेवाले थे इस युग में हुए। बृहस्पति का चार्वाक दर्शन भी सम्प्रदाय के रूप में प्राचीन विचारों पर प्रहार करता हुआ लोक में फैला। बौद्ध, जैन और आजीवक सम्प्रदाय के प्रचारकों को राजकीय संरक्षण भी मिला जिससे उनकी मान्यता बढ़ी। बुद्ध और महावीर दोनों स्वयं भी राजकुमार थे।

बौद्ध धर्म तथा सम्प्रदाय— वैदिक परम्पराओं से अलग जो सम्प्रदाय अथवा धर्म बढ़े उनमें बौद्धधर्म का सबसे प्रमुख स्थान था। इसके धर्म-प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे।

बुद्ध की जीवनी—बुद्ध का जन्म ५६३ ई० पू० के आसपास हुआ था। बुद्ध शाक्यों के गणतन्त्र के प्रधान राजा शुद्धोदन के पुत्र थे। बुद्ध की माता माया देवी का देहान्त उनके जन्म से एक सप्ताह बाद हो गया। बुद्ध का कुमारावस्था का नाम सिद्धार्थ था। बालपन से ही सिद्धार्थ बड़े शान्तचित्त थे। उनका मन करुणा से भरा हुआ था तथा ध्यान तथा मनन में खूब लगता था। युवावस्था में सिद्धार्थ का विवाह कोलियों के गणतन्त्र की सुन्दरी राजकुमारी यशोधरा से हुआ। सुख सामग्री से भरे रनिवास में सिद्धार्थ ने कुछ वर्ष बिताए, पर भोगों के जीवन से उनका मन हट गया।

एक बार नगर में भ्रमण को जाते हुए इन्होंने मार्ग में एक वृद्ध, एक रोगी और एक मृतक को देखा। उन्हें देखकर ये दुःख के बारे में सोचने लगे। फिर एक संन्यासी को देखकर इनके मन में वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्होंने दुःखों से छुटकारा पाने का दृढ संकल्प किया। एक रात अपनी स्त्री और पुत्र को सोते हुए छोड़कर घर से बाहर निकल गए। इसे बौद्ध लोग महाभिनिष्क्रमण कहते हैं। इस समय उनकी अवस्था अट्ठाइस वर्ष की थी।

अपने राज्य की सीमा पारकर सिद्धार्थ ने राजसी वस्त्र त्याग दिए और संसारत्यागी संन्यासी के वेश में सत्य की खोज के लिए अकेले बढ़े। उस समय के प्रधान विचारकों और ज्ञानियों के पास जाकर इन्होंने अपनी शंकाओं को सुलझाना चाहा, पर कहीं भी पूर्ण समाधान न मिला। इन ज्ञानियों में आड़ार कालाम और रुद्रक रामपुत्र मुख्य थे।

इस तरह ज्ञान की खोज में सिद्धार्थ छः वर्ष तक घूमते रहे। संन्यासी अवस्था में वे अपने कुल के गोत्र गौतम नाम से प्रसिद्ध थे। गौतम अन्त में राजगृह होते हुए निरंजना नदी के तट पर स्थित

उरुवेला (आधुनिक बुद्ध गया) नामक स्थान पर पहुँचे। यहाँ इनके स्वभाव व गुणों से आकृष्ट होकर पाँच ब्रह्मचारी भिक्षु साथ आ मिले। यहाँ पर उन्होंने एक वर्ष तक घोर तपस्या की। शरीर को भयंकर पीड़ा पहुंचानेवाले इस तप से भी इनको शान्ति न मिली। एक दिन उन्होंने जाना कि जीवन की हानि हो जाने से कोई लाभ नहीं। इन्होंने मध्यम मार्ग या बीच का रास्ता अपनाने का इरादा कर लिया और अन्न लेकर शरीर को स्वस्थ रूप में पालने का विचार कर लिया। उस समय उस जंगल के राजा की कन्या वृक्ष देवता की पूजा के लिए खीर बनाकर लाई थी। पेड़ के नीचे बैठे हुए गौतम को ही उसने साक्षात् देवता समझा और इन्हें खीर खाने को दी। पुनः स्वास्थ्य प्राप्त करके गौतम एक पीपल के पेड़ के नीचे यह दृढ़ प्रतिज्ञा करके बैठे कि जब तक मुझे ज्ञान न होगा, तब तक इस आसन को न छोड़ूँगा। एकाग्र मन से इस प्रकार ध्यान में बैठ जाने पर विचारों का विक्षेप करनेवाले बहुत से विघ्न हुए। मन में तर्क, वितर्क एवं भावुक प्रवृत्तियों की आँधी सी चलती रही। पर गौतम ने अपने मन को सुस्थिर किया और एक आसन से सात दिन तक बैठे हुए अन्त में उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ। इस ज्ञान को संबोधि कहा जाता है। जिस वृक्ष के नीचे इन्हें ज्ञान हुआ था वह पीपल का पेड़ बोधि वृक्ष कहलाया। बोधि प्राप्त होने पर वे बुद्ध कहलाए। इस ज्ञान का सार यह है—न तो संसार में लिप्त हो जाने की प्रवृति अच्छी है और न शरीर को कष्ट देनेवाला घोर तप ही ठीक है। अति तप और अति भोग के ये दोनों ही मार्ग मनुष्य के लिये हितकारी नहीं है। इन दोनों बीच का मार्ग ही संतुलित जीवन का उत्तम मार्ग है। इसे बुद्ध ने मध्यम मार्ग या मज्झिम पटिपदा कहा है।

ज्ञान की प्राप्ति से बुद्ध का मन शान्ति और आनन्द से भर गया। पहले तो उन्होंने सोचा कि इस ज्ञान के आनन्द को वह स्वयं ही

उठावें। फिर यह निश्चय किया कि संसार में ठीक ज्ञान न मिलने से बहुत लोग दुःख से पीड़ित हैं। अतएव उनकी मुक्ति के लिए मेरा यह ज्ञान संसार में फैलना चाहिए। पाँच भिक्षु बुद्ध के तप छोड़ देने से इनको पथभ्रष्ट मानकर साथ छोड़कर चले गये थे। उन्हींको अपना प्रथम संदेश सुनाने के लिए बुद्ध काशी के पास ऋषिपत्तन मृगदाव गए जिसे अब सारनाथ कहते हैं। सारनाथ में बुद्ध ने अपने धर्म का पहला उपदेश दिया। इसको बौद्ध धर्मचक्र प्रवर्त्तन कहते हैं। बुद्ध के ये प्रथम शिष्य पञ्चवर्गीय भिक्षु कहलाते हैं। काशी के एक धनी श्रेष्ठी का लड़का यश अपने अन्य साथियों के साथ बुद्ध का शिष्य बना। इस प्रकार साठ भिक्षुओं के समुदाय से इन्होंने अपने संघ की स्थापना की। इसके उपरान्त अपने धर्म का प्रचार करने के लिए बुद्ध स्थान-स्थान पर घूमते रहे। इनका संघ धीरे-धीरे उन्नति करने लगा। संघ में सम्मिलित होनेवाला प्रत्येक बौद्ध भिक्षु कहता था—बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघं सरणं गच्छामि। बुद्ध, धर्म और संघ का नाम त्रिरत्न है।

बुद्ध का प्रथम उपदेश—भिक्षुओ! इन दो अतियों का नहीं सेवन करना चाहिए—एक काम सुख में लिप्त होना और दूसरे शरीर को व्यर्थ कष्ट देना। इन दोनों अतियों (चरम पंथों) को छोड़कर मैंने मध्यम मार्ग खोज निकाला है, जो कि ठीक दृष्टि देनेवाला है, ज्ञान करानेवाला और शान्ति देनेवाला है। बुद्ध ने सर्वप्रथम चार आर्यसत्य या श्रेष्ठ सच बातें बताई हैं। पहला सत्य यह है कि संसार में दुःख है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये पाँच प्रकार के दुःख हैं। दूसरा सत्य यह है कि दुःख का हेतु तृष्णा है। तीसरा सत्य यह है कि उस तृष्णा को रोकने, छोड़ देने और नष्ट कर देने से दुःख से छुटकारा पाया जा सकता है। इसे दुःख निरोध कहते हैं। चौथा सत्य—दुःख-विनाश की ओर ले जानेवाला आर्य अष्टांगिक मार्ग है।

वह मार्ग इस प्रकार है—१ सम्यक् दृष्टि, २ सम्यक् संकल्प, ३ सम्यक् वचन, ४ सम्यक् कर्म, ५ सम्यक् जीविका, ६ सम्यक् प्रयत्न, ७ सम्यक् स्मृति, ८ सम्यक् समाधि। सम्यक् का अर्थ है ठीक, उचित या बुद्धिपूर्वक अपनाया हुआ संतुलित भाव। ३५ वर्ष की आयु में संघ की स्थापना करके बुद्ध अगले ४५ वर्ष तक निरन्तर घूमकर अपना संदेश सुनाते रहे और धर्म का प्रचार करते रहे। वर्षाकाल में वे एक स्थान पर अधिक समय तक रुक कर चातुर्मास्य किया करते थे। बुद्ध बहुत करके उत्तर प्रदेश और बिहार में ही घूमे थे। इन्हीं प्रदेशों में इनके धर्म का बहुत प्रचार हुआ। बाहर के स्थानों पर उनके शिष्य धर्म प्रचार के लिए गए। बौद्ध धर्म का केंद्र मध्य देश ही रहा। बौद्ध धर्म का प्रचार समाज के सभी अंगों में काफी हुआ। बुद्ध एक महान व्यक्ति थे और राजकुल में उत्पन्न हुए थे। इस कारण उस समय के राजवंशों, गणराज्यों के प्रमुखों एवं धनीवर्ग और विद्वानों में उनका बहुत सम्मान हुआ। उनका शिष्य समुदाय दो प्रकार का था। एक तो उनके पूर्ण अनुयायी संघ में सम्मिलित, संसार-त्यागी भिक्षुगण थे। दूसरे उनके अनुयायी गृहस्थ तथा उपासिकाएँ थीं। दोनों की ही संख्या बहुत बड़ी थी। कोशल के राजा प्रसेनजित् और मगध के राजा बिम्बसार बुद्ध के बड़े भक्त थे। श्रावस्ती में (कोशल की राजधानी) वहाँ के सेठ और धनी अनाथ पिंडक ने बुद्ध के लिए जेतवन नामक एक विशाल बिहार बनाया। बुद्ध ने अपने अधिकांश वर्षावास वहीं बिताए। राजगृह, वैशाली, कौशाम्बी इत्यादि राजधानियों में बड़े-बड़े बिहार बौद्धसंघ के लिए बने। समाज के प्रत्येक वर्ग ने धन-धान्य से बौद्ध संघ की खूब सहायता की।

अस्सी वर्ष की अवस्था में मल्ल गणसंघ की राजधानी कुशीनारा (आधुनिक कसिया) में बुद्ध का शरीर छूटा। इस घटना को बौद्ध महा परिनिर्वाण करते हैं। बुद्ध ने अपनी प्रतिमा या मूर्ति बनाने का

घोर विरोध किया था। पहले उनके शिष्य उनके लिये स्तूप बनवाने लगे और पीछे मूर्तियाँ। उनके शरीर के अंश, हड्डियाँ और दाँत, नाखून, बाल आदि लेकर तथा शरीर के उपयोग में आई हुई वस्तुएँ जैसे वस्त्र, भिक्षापात्र, आदि लेकर और उनसे संबंधित प्रतीक (सिम्बल्स) जैसे बोधिवृक्ष, त्रिरत्न आदि लेकर स्तूप बनवाकर बुद्ध के शिष्य उन्हें पूजने लगे। पहली सदी ईस्वी के आसपास बुद्ध के भक्तों ने उनकी मूर्ति बना डाली।

बुद्ध ने अपने संघ के भिक्षुओं के लिए विनय या संगठन के नियम उस समय के गणराज्यों की शासनपद्धति पर बनाए।

बुद्ध के प्रमुख शिष्यों में मगध के सारिपुत महामोग्गलान, महाकाश्यप, आनंद और उपालि थे। उनके गृहस्थ शिष्यों में बिम्बसार, प्रसेनजित्, अनाथपिंडक, विशाखा आदि थे। आनन्द के आग्रह से बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना की जिनमें बुद्ध की मौसी और उनका पालन करनेवाली गौतमी, उसकी पुत्री नन्दा, बुद्ध पत्नी यशोधरा आदि थीं।

बुद्ध के जीवन में वैशाख की पूर्णिमा का बहुत महत्व है। परम्परा के अनुसार उनका जन्म, गृह, त्याग ज्ञान प्राप्ति और मृत्यु इसी दिन हुए थे।

बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त उनका शरीरदाह एक चक्रवर्ती राजा की तरह किया गया। उनके शरीर धातु या अस्थियों के लिए उस समय के प्रमुख राजाओं और गणराज्यों में झगड़ा होने लगा। तब द्रोण नामक ब्राह्मण ने समझा बुझाकर उनकी भस्मी के आठ भाग किए। उन पर अलग-अलग आठ स्तूप बने।

पहली संगीति—बुद्ध की मृत्यु के बाद बौद्ध संघ के सब प्रमुख लोग जमा होकर बुद्ध के धर्म, उनके वचन और संघ के नियमों को

निश्चित करने पर विचार करने लगे। उसके लिए राजगृह के पास की पहाड़ियों में सप्तपर्णी गुफा पर मगध के राजा अजातशत्रु के संरक्षण में प्रमुख भिक्षुओं की एक सभा हुई। इसे प्रथम संगीति कहते हैं। इसमें पाँच सौ प्रधान भिक्षु सम्मिलित हुए। सभा का अध्यक्ष पद महाकाश्यप ने ग्रहण किया। उपालि ने विनय अर्थात् संघ के नियमों का पाठ किया। आनन्द ने बुद्ध के सब वचनों और कथाओं का संग्रह किया। यह सम्पूर्ण साहित्य तीन पिटकों में—विनय पिटक, अभिधम्म पिटक और सुत्त पिटक के रूप में संगृहीत हुआ।

दूसरी संगीति—पहली सभा के ठीक १०० वर्ष बाद दूसरी संगीति वैशाली में हुई। इसमें धर्म के ग्रन्थों का पाठ हुआ।

तीसरी संगीति—यह सभा अशोक के समय में पाटलीपुत्र में बुलाई गई थी। इसके प्रधान मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। जो अशोक के धर्मगुरु थे। इसमें बौद्धधर्म का साहित्य जो अब बहुत विस्तृत हो गया था निश्चित रूप से लिख लिया गया। दूसरा विशेष निर्णय यह हुआ कि भारतवर्ष के जिन भागों में बौद्ध धर्म का प्रचार नहीं हुआ था। वहाँ पर और भारतवर्ष के देशों में बौद्ध विद्वान भेजे जायँ जो धर्म का प्रचार करें।

चौथी संगीति—कनिष्क के राज्यकाल में चौथी सभा काश्मीर के कुंडलबन नामक बिहार में बुलाई गई। वसुमित्र इस सभा के प्रधान थे। महाकवि अश्वघोष उसके उपप्रधान थे। इस समय तक बौद्धों में अनगिन्त सम्प्रदाय हो गए थे जो आपस में लड़ते झगड़ते थे। इनमें से अठारह को मान्यता प्रदान की गई। दो सम्प्रदाय महायान और हीनयान सबसे मुख माने गए। महायान कनिष्क का राजधर्म था। इस समय के बाद महायान की परम्परा उत्तर भारत में और भारत के उत्तर के देशों में सम्मान्य हुई। हीनयान का केंद्र लंका में रहा।

महायान धर्मवालों ने द्ध की प्रतिमा बनाई। उस समय के भागवतों के समान बुद्ध को भी देवता मान कर उनकी पूजा के तरह तरह के ढंग बनाए गए।

जैनधर्म

महावीर की जीवनी—जैनधर्म के मुख्य प्रवर्तक वर्द्धमान महावीर थे। महावीर बुद्ध के समकालीन और उनसे कुछ बड़े थे। उस युग में वैशाली का लिच्छिवि गणराज्य अपने वैभव और प्रताप के लिए बहुत प्रसिद्ध था। महावीर के पिता सिद्धार्थ वैशाली के पास कुंड ग्राम के निवासी थे। वे लिच्छिवियों की एक खास शाखा ज्ञातृ क्षत्रियों के राजा थे। महावीर की माता त्रिशला विदेहों के राजा की पुत्री थी। गृहस्थ जीवन में उनका नाम वर्द्धमान था। अपनी जाति के अनुसार उनको ज्ञातिपुत्र या नातपुत्र कहा जाता था। वीर या क्षत्रिय वर्ग में उत्तम होने से इनका नाम महावीर था।

वर्द्धमान का विवाह लिच्छिवियों के राजा की पुत्री यशोदा से हुआ। वे एक कन्या के पिता बने। वर्द्धमान के माता पिता की मृत्यु उनके घर में रहते ही हो गई। अपनी आयु के इक्तीसवें वर्ष में वर्द्धमान ने प्रव्रज्या ग्रहण की। उनके बड़े भाई नन्दिवर्द्धन की इसमें अनुमति थी। घर छोड़ने में वर्द्धमान का उद्देश्य था संसार में कष्ट पानेवाले मानवों के लिए छुटकारे का उपाय करना और मुक्ति (कैवल्य) का मार्ग ढूँढ़ना।

महावीर साधक तपस्वी के वेश में बारह वर्ष तक घूमते रहे। बुद्ध के समान वे भी उस समय के दार्शनिकों और विद्वानों के पास गए। छः वर्ष तक वे आजीवकों के आचार्य मंखलि गोसाल के साथ रहे। सम्भवतः उग्र तप उन्होंने गोसाल से ही लिया था। महावीर

इसके बाद अकेले ही भ्रमण करते रहे। बारह वर्ष तक इस स्थिति में रहने पर महावीर को ज्ञान हुआ। इसके बाद इन्हें केवली (ज्ञानी) कहा जाने लगा। उन्होंने यह समझा कि जीव को (मनुष्य) मुक्ति के लिए सब ग्रंथियों (बंधनों) का त्याग आवश्यक है। वे इन ग्रंथियों से छूट गए थे। इसी से इनका नाम निर्ग्रंथ या निगंठ पड़ा। उन्होंने बन्धनमुक्ति को इतना महत्त्व दिया कि वे वस्त्रों का बन्धन भी न रखने लगे और दिगम्बर जीवन बिताने लगे।

ज्ञान-प्राप्ति के बाद महावीर तीस वर्ष तक और जीवित रहे। बहत्तर वर्ष की आयु में मल्लों की राजधानी पावा में महावीर का शरीर छूटा और उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया।

महावीर का व्यक्तित्व महान था। वे तीक्ष्ण बुद्धि वाले और शास्त्रों का गहरा ज्ञान रखते थे। उन्होंने तप और अभ्यास द्वारा सब प्रकार के मनोवेगों और वासनाओं पर विजय पाई थी। वे राजकुल के थे और उस काल के बड़े बड़े राजाओं तथा गण राज्यों में उनके निकट संबंधी थे। महावीर अपने गुणों और व्यक्तित्व से सबके आदर के पात्र थे। शीघ्र ही उनके सम्प्रदाय की जड़ जम गई और उनके अनुयायियों की संख्या काफी हो गई।

महावीर कठोर नियम और उग्र तप में विश्वास रखते थे। उनका विचार था कि संन्यासी को अकेले ही घूमना चाहिए। फिर भी उन्होंने अपने संघ की स्थापना की। उनके संघ में चार वर्ग थे, संसार त्यागी श्रावक (संन्यासी वर्ग) और श्राविकाएं तथा गृहस्थ उपासक उपासिकाएं। श्रावकों के लिए अत्यन्त कठोर नियम बनाए गए। गृहस्थों के लिये चरित्र के नियम आवश्यक थे जो अणुव्रत कहलाते थे।

जैन साहित्य—जैनियों का धार्मिक साहित्य आगम साहित्य कहलाता है। दिगम्बरों की मान्यता है कि प्राचीन साहित्य नष्ट हो

गया। पर श्वेताम्बरों का उसमें विश्वास है। आगमों की भाषा एक तरह की प्राकृत या अर्द्ध मागधरी है। आगम साहित्य में कुल ४१ ग्रंथ हैं। इनमें ११ अंग, १२ उपांग, ५ छेदसूत्र, ५ मूलसूत्र और आठ फुटकर ग्रंथ हैं।

जैन दर्शन—ये लोग सृष्टि का कोई चैतन्य कारण नहीं मानते। इनका कहना है कि सृष्टि में कोई ईश्वर और जगत का रचयिता नहीं है। संसार या विश्व अनादि या अनन्त है। इसमें जड़तत्व अथवा प्रकृति भी अनादि और अनन्त है। सब कुछ अपने स्वभाव के कारण ही अपना कार्य करता है। ये लोग सृष्टि को जीव और अजीव दो भागों में बाँटते हैं। जीव तो सब प्राणिमात्र हैं और अजीव या पुद्गल में वे स्थूल मूर्त वस्तुएँ हैं जिनका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा जाना जाता है।

प्रकृति या भौतिक जगत की वास्तविकता को ये लोग मानते हैं। यह जगत् परमाणुओं से बना हुआ है ऐसा इन लोगों का मत है। जितने पुरुष या जीव हैं वे सब अपने कर्म में स्वतन्त्र हैं। वे कर्म के अनुसार ही दुःख सुख के भागी होते हैं, अथवा कैवल्य या मुक्ति पाते हैं।

जैनों का विश्वास है कि हरेक वस्तु में और हरेक लोक में जीव हैं, यहाँ तक कि पृथ्वी, वायु, अग्नि, जल और वृक्ष इत्यादि में भी जीव हैं। ये जीव बार-बार जन्म लेते हैं। वर्द्धमान ने इसीलिए इस बात का आग्रह पूर्वक उपदेश दिया कि किसी को किसी प्रकार की भी स्थूल या सूक्ष्म जीव हिंसा नहीं करनी चाहिए।

जीव को कोई दुख-सुख का देनेवाला नहीं है। अपने कर्म से ही दुख और सुख मिलता है। केवल तप से ही दुख का नाश किया जा सकता है। तीर्थंकरों ने यह भी कहा है कि तप के द्वारा प्राचीन कर्मों का नाश करना चाहिए, और निष्कर्म रह कर नये कर्मों

को उत्पन्न होने से रोकना चाहिए। जब कर्म का अन्त हो जाता है तो दुख का भी अन्त हो जाता है और जीव कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त करता है।

स्याद्वाद इनके दर्शन की सब से बड़ी विशेषता है। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं। इनका कहना है कि अनेक दृष्टियों से सत्य का ग्रहण किया जा सकता है। कितना सत्य कोई पा लेता है यह देखनेवाले पर ही निर्भर करता है। जैसे एक हाथी हो और कोई उसके सूंड को जान पाए, कोई पैर, कोई सिर कोई पूँछ को, ऐसे ही लोग सत्य के एक-एक अंशों को जान पाते हैं। केवल तीर्थंकर ही पूर्ण ज्ञानी होते हैं।

कैवल्य उस ज्ञान को कहते हैं जो परिपूर्ण है। यह ज्ञान देश, काल और वस्तु किसी से भी सीमित नहीं होता। यह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले ज्ञान से ऊपर है। यह केवल निर्ग्रन्थ और विशुद्ध जीवों को ही प्राप्त होता है।

तीर्थंकर—जैनधर्म में २४ तीर्थंकर माने गए हैं। इनमें पार्श्व और महावीर दो ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। महावीर ने अंशतः पार्श्व के मत का ही संस्कार किया और उसे बढ़ाया। कठोर और उग्र तप का रूप महावीर ने विशेष रूप से सामने रखा।

तीर्थंकरों या अर्हतों के लिए जैनियों में मान्यता है कि उन्हें देवत्व प्राप्त हो गया है। तीर्थंकर ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हैं और फिर जन्म मरण के चक्कर में नहीं पड़ते। वे विशुद्ध निर्गुण अवस्था में पहुँच जाते हैं। तीर्थंकरों में सबसे अधिक मान्यता वर्द्धमान महावीर की है। निगंठनात पुत्त (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वद्रष्टा हैं। वे परिपूर्ण ज्ञानवाले और परिपूर्ण दृष्टिवाले हैं। तीर्थंकरों में और विशेषरूपसे महावीर में एकनिष्ठ भक्ति रखना मुक्ति का उपाय है।

त्रिरत्न—सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य इनके त्रिरत्न कहलाते हैं। जीव की मुक्ति के लिए इन तीनों का आश्रय एकमात्र उपाय है।

सम्यक् दर्शन जिन या मुक्त जीवों अर्थात् तीर्थकरों में एकमात्र श्रद्धा का नाम है।

सम्यक् ज्ञान उस तीर्थंकर के मत को जान लेना है।

सम्यक् चारित्र्य जैनियों की बहुत आवश्यक वस्तु है। इसके पाँच अंश या व्रत हैं।

एक अहिंसा, दूसरा सत्य, तीसरा अस्तेय, चौथा ब्रह्मचर्य और पाचवाँ अपरिग्रह या त्याग। अहिंसा पर बहुत जोर दिया जाता है। पूर्ण अपरिग्रह में वस्त्रों का त्याग भी आवश्यक हो जाता है। उनके साधु दिगम्बर रूप में रहते हैं। श्वेताम्बर साधु वस्त्र धारण कर सकते हैं। साधुओं के लिए ब्रह्मचारी (अविवाहित) होना आवश्यक है।

दिगम्बर जैनधर्म में यह माना जाता है कि स्त्री की मुक्ति नहीं होती। वेदों को ये लोग प्रमाण नहीं मानते। वर्ण और आश्रम धर्म पर भी इनका आग्रह नहीं है।

जैनधर्म का इतिहास—महावीर की मृत्यु के कई सौ वर्ष बाद जैन मतावलम्बियों में दो सम्प्रदाय हो गए थे, श्वेताम्बर और दिगम्बर। समय समय पर जैनियों की कुछ प्रमुख सभाएँ हुईं जिनमें प्रयत्न हुआ कि कुछ समझौता हो। दूसरा कार्य इन सभाओं का यह था कि प्राचीन साहित्य व तीर्थंकरों द्वारा दिया हुआ ज्ञान क्रमवार पढ़ा जाए। ये सभाएँ वाचना कहलाती हैं। सबसे पहली वाचना पाटलिपुत्र में चौथी शताब्दी ई० पू० में भद्रबाहु के अध्यक्ष पद में हुई थी। दूसरी वाचना मथुरा में कुषाण युग में (पहली दूसरी शती ई०) में

हुई। उसके अध्यक्ष स्कन्दिलाचार्य थे। तीसरी वाचना वलभी में पाचवीं शती के मध्य में देवर्द्धिगणि की अध्यक्षता में हुई।

जैनधर्म का प्रारम्भ मगध और बिहार में हुआ था। उसके बाद महावीर के उपदेशों से जैनधर्म बंगाल और उत्तरप्रदेश में भी फैल गया। ईसवी पूर्व चौथी शती में भद्रबाहु बारह वर्ष के दुर्भिक्ष से बचने के लिए उत्तर भारत से संघ लेकर दक्षिण में तामिल प्रदेश में चले गए। इसके उपरान्त तामिल देश जैनधर्म का केन्द्र रहा। भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु माना जाता है। तामिल देश से जैनधर्म का केन्द्र काफी समय तक कर्नाटक में रहा। मध्यकाल में जैनियों का प्रमुख केन्द्र गुजरात और सौराष्ट्र में हो गया। आज भी जैन सबसे अधिक मात्रा में वहाँ पर ही हैं।

अध्याय ६

भागवत धर्म

वैदिक युग का धर्म यज्ञ, अग्निहोत्र, इत्यादि कर्मकाण्ड पर निर्भर था। उपनिषदों में मानव की मुक्ति का उपाय आत्मज्ञान कहा गया है। भागवतधर्म में भावना या भक्ति प्रधान है।

भागवतों में विष्णु की भक्ति जीवन का मुख्य लक्ष्य है। विष्णु वैदिक देवता थे। भागवतों ने उन्हें अपना प्रधान देव माना। विष्णु सृष्टि के पालनकर्त्ता, सत्त्वगुण के अधिष्ठाता और सब देवों के ऊपर माने जाने लगे। विष्णु के अनेक अवतारों की कल्पना की गई और उनकी भक्ति धर्म का रूप बन गई। वासुदेव कृष्ण विष्णु के अवतार हैं। उनकी भक्ति को भागवतों ने अपने धर्म का मुख्य आधार बनाया।

वेदों में विष्णु—विष्णु का सबसे पहला उल्लेख ऋग्वेद के पाँच सूक्तों में है। वहाँ विष्णु इन्द्र के सहयोगी मित्र हैं। कहा है कि विष्णु इस विश्व को अकेले ही धारण करते हैं। एक जगह विष्णु की कृपा को प्राप्त करने के लिए उपासना का विधान है।

ऋग्वेद में विष्णु के अवतार का आभास भी मिलता है। वहाँ कहा है कि 'विष्णु कुमार का रूप रखकर अपने शरीर को बढ़ाते हैं और लोकों को नाप लेते हैं।' यह भी कहा है कि विष्णु ने सब

लोकों को अपने तीन पैरों से नाप लिया है। निस्सन्देह ये कथन आगे विकसित होनेवाले वामन या त्रिविक्रम अवतार के बीज हैं।

ऋग्वेद में विष्णु को सखाओं वाला (सखिवान्), व्रज की रक्षा करनेवाला और गोपाल कहा गया है। स्पष्ट ही व्रज, गोप और सखिवान् ये तीनों शब्द हमारा ध्यान वहाँ ले जाते हैं जहाँ भागवत धर्म के अनुसार व्रज में गोपालकृष्ण अपने सखाओं के साथ लीलाएँ करते हैं। एक मन्त्र में कृष्ण की दावानल आचमन लीला का भी संकेत है।

अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि द्रविड़, निषाद, शबर आदि आर्येतर जातियों के विश्वास, पूजापद्धति और देवी देवता भारतीय समाज में घुलमिल गए थे। आर्यों के प्राचीन देवता प्रकृति की विभिन्न शक्तियों के प्रतीक थे। बाद में इन देवताओं को मनुष्य के रूप में माना जाने लगा। साथ ही महापुरुषों को देवता मान लेने की परम्परा भी चली। यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मथुरा और द्वारका के सात्वतवंशीय वृष्णि क्षत्रियों में थी। उन्होंने वासुदेव, उनके भाई संकर्षण, पुत्र प्रद्युम्न और पौत्र अनिरुद्ध को देवता माना। सात्वत लोग इन चारों की देवता के रूप में उपासना करने लगे और सबको विष्णु का परिवार मान लिया गया।

महाभारत—विष्णु और कृष्ण की संयुक्त परम्परा हमें महाभारत में मिलती है। कृष्ण महाभारत के चरितनायक हैं किन्तु उनका चरित्र-चित्रण विष्णु के अवतार की तरह हुआ है। कृष्ण की महिमा को लेकर एक नए धर्म का रूप दिया गया जिसे नारायणीय धर्म कहा गया।

इस धर्म का प्रमुख आधार नर और नारायण हैं। ये दोनों ही विष्णु के अंश हैं। दार्शनिक रूप में जीव नर है और ईश्वर नारायण।

दोनों एक ही महान् तत्त्व के दो रूप हैं। ऋग्वेद में जो इन्द्र और विष्णु मित्र थे उन्हीं से नर नारायण की संयुक्त कल्पना का विकास हुआ। नारायणीय धर्म में नारायण या कृष्ण सब देवों के देव माने गए। पाणिनि के समय में (ई० पू० ५वीं शती) भी कृष्ण और अर्जुन की देवता के रूप में भक्ति और मान्यता होती थी।

महापुरुषों को देवता बनाकर पूजने की प्रथा यक्षों की पूजा के रूप में विशेष करके फैल चुकी थी। उसी की नकल करके वायु पुराण में कृष्ण और उनके साथियों को 'पुरुष प्रकृतिक देव' कहा गया है, अर्थात् वे देवता जिनका मूलरूप पुरुष का था।

शुंगयुग—बुद्ध के नए धर्म के आने से अन्य मतों को कुछ ठेस पहुँची। अशोक ने तो बौद्धधर्म को देशव्यापी बना दिया। पिछले मौर्य राजा बहुत दुर्बल सम्राट् थे। वे लोग बौद्धधर्म की अहिंसा और संसारत्याग को अपनी कायरता और अकर्मण्यता को छिपाने के लिये प्रयोग करने लगे। इस समय में विदेशी हमलों और यवन आदि जातियों के भारत में घुस आने से बड़ी दुरवस्था फैल गई। भारतीय धर्म, संस्कृति और समाज का ढाँचा नीचे से ऊपर तक हिल गया। पर यह स्थिति अधिक समय न रही। कुछ वीर और महत्त्वाकांक्षी भारतीयों ने अपने को फिर उठाया। इनमें पुष्यमित्र शुंग प्रमुख था। शुंग लोग भागवत थे। वस्तुतः इस धर्म का यह नाम इसी समय से मिलता है। भगवान् की पूजा और भक्ति करनेवाले भागवत हैं। भागवत लोग वासुदेव और संकर्षण (बलराम) को भगवान् मानते थे। बौद्धों और जैनों ने भी बुद्ध और तीर्थंकरों को भगवान् कहना शुरू किया था।

शुंग युग में धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में नई चेतना और उत्साह का उदय हुआ। इस समय अश्वमेध यज्ञ भी फिर से किए जाने लगे। परन्तु यज्ञ अब देशव्यापी धर्म नहीं बन सकता था। भागवतों ने

इस आवश्यकता को पूरा किया। उन्होंने वैदिक यज्ञ का खंडन नहीं किया पर उसका विधान भी न किया। उन्होंने अहिंसा को अपनाया। यह अहिंसा दुर्बल की अहिंसा न थी। आततायी और क्रूर के लिये इस अहिंसा में कोई दया न थी। साथ ही उन्होंने एक ऐसे देव को अपना भगवान् माना जो सब तरह से उत्तम हैं। कृष्ण आदर्श बालक हैं। उन्होंने अपने सौन्दर्य और प्रताप से लोगों के मन मोह लिए। कृष्ण राजा नहीं हैं, पर बड़े-बड़े राजा लोग उनके भक्त थे। शारीरिक बल और अस्त्रशस्त्र के प्रयोग में कृष्ण अद्वितीय हैं। अपने भक्तों की रक्षा कृष्ण सब प्रकार के कष्टों से कर सकते हैं। वे महान् योगी हैं, महान् द्रष्टा, महान् विचारक, और महान् देव हैं। उस समय के पीड़ित समाज के लिये कृष्ण का संदेश आशा का एकमात्र प्रतीक बन गया।

पतञ्जलि—पतञ्जलि ने संकर्षण और वासुदेव इन दोनों की पूजा का उल्लेख किया है। इनके मन्दिर बनाए जाते थे। पतञ्जलि ने यज्ञों का भी उल्लेख किया है पर वह कुछ ही स्थलों पर। भागवत धर्म ने इस समय भारतीय समाज और धर्म को फिर से व्यवस्थित कर दिया।

पुरातत्त्व की साक्षी—शुंगयुग में कृष्ण और बलराम के मन्दिर सारे देश में बनने लगे। राजस्थान में चित्तौड़ से प्राप्त एक लेख में कृष्ण और बलराम को भगवान और सर्वेश्वर कहा है और इनके मन्दिर का उल्लेख है।

इस युग में भागवतों के धर्मप्रचार और कृष्ण के अद्भुत व्यक्तित्व से प्रभावित होकर विदेशी भी इस धर्म की ओर आकर्षित हुए। बेस-नगर (मध्यभारत) से मिले यूनानी राजदूत भागवत हेलियोदोर का एक स्तंभलेख मिला है, वह स्तम्भ देवों के देव वासुदेव के मन्दिर के सामने गरुड़ध्वज के रूप में खड़ा किया गया था।

मथुरा से एक बलराम की मूर्ति मिली है जो इसी समय की है। वहाँ से एक लेख भी मिला है जो पाँच वृष्णिवीरों की मूर्तियों और उनके मन्दिर की स्थापना का उल्लेख करता है। कृष्ण वृष्णि थे और उनको तथा उनके कुल को वृष्णिवीर कहा गया। मालूम पड़ता है कि कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के साथ कृष्ण के दूसरे बेटे सांब को भी मिला लिया गया था।

हरिवंश—हरिवंश पुराण शुंग काल के समय लिखा गया और महाभारत का परिशिष्ट मान लिया गया। इसमें विशेष रूप से विष्णु के कृष्ण अवतार की लीलाओं का वर्णन है। यह पुराण कृष्ण और उनके साथियों के जिन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं, भगवान होने का प्रतिपादन करता है।

दक्षिण में कृष्ण की भक्ति का प्रचार सातवाहन राजाओं ने किया। वे लोग विष्णु के भक्त थे और उन्होंने भारतीय समाज की व्यवस्था को फिर से संगठित किया। धीरे-धीरे दक्षिण भारत भागवत भक्तों का प्रमुख केन्द्र हो गया। भागवत पुराण में तो यहाँ तक कहा है कि भक्ति का जन्म दक्षिण देश में हुआ। दक्षिण के कितने ही आलवार भक्तों ने भागवत धर्म को लोकव्यापी बना दिया।

गुप्त काल—शुंग युग के बाद तीन शताब्दी तक बड़ी उथल-पुथल रही। गुप्त-युग में भागवत धर्म का तीसरा उत्थान हुआ। भागवत धर्म प्रायः पूरे देश में फैल गया।

यक्ष, नाग, वृक्ष, नदी, पर्वत, मातृकाएँ आदि सैकड़ों देवताओं की पूजा मान्यता लोक में बहुत समय से चली आती थी। भागवत धर्म ने किसी का खंडन नहीं किया और उन सबका विष्णु के साथ समन्वय कर दिया।

विष्णु के दस अवतार माने गए—मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि। इनके साथ विष्णु की और भी लीलाओं की कथाएँ बनीं। इन लीलाओं में विष्णु साक्षात् रूप से भाग लेते हैं, जैसे अमृत मन्थन, गजेन्द्र मोक्ष आदि में।

भागवतों के भक्ति धर्म और सांख्यों के दर्शन का समन्वय इस समय हुआ। भागवतों ने सांख्य दर्शन के सृष्टि क्रम को अपना लिया।

कृष्ण का आभीर या गोपाल रूप इस काल में बहुत प्रिय हुआ। उनकी तरह-तरह की लीलाएँ बनाई गईं। जिनका वर्णन पुराणों में मिलता है। उत्तर भारत से लेकर दक्षिण तक इसका बहुत प्रचार हुआ।

गुप्तयुग में ही बृहत्तरभारत में रामायण और महाभारत का प्रवेश हुआ। वहाँ पर विष्णु के मन्दिर बने और कथाओं का प्रचार हुआ।

इस युग के भागवत धर्म की सबसे प्रभावशाली विशेषता यह थी कि भागवतों ने धर्म का मार्ग सबके लिए खोल दिया। प्रत्येक जाति, वर्ण और विचारों के लोग विष्णु की भक्ति और पूजा कर सकते थे। विशेष रूप से इसका फल यह हुआ कि यवन, शक, पह्लव, तुषार, कुषाण इत्यादि जितनी भी विदेशी जातियाँ थीं, भारतीय समाज में मिल गईं।

भागवत धर्म का सबसे महत्वपूर्ण कार्य गृहस्थ धर्म की पुनः प्रतिष्ठा थी। व्यक्तिगत चरित्र, गुण और अहिंसा के आधार पर इस धर्म का देश भर में प्रचार हुआ।

संप्रदाय—कुषाण और गुप्त युग में भागवतों में भी कई संप्रदाय हो गए थे। पर इन सभी के इष्टदेव विष्णु और कृष्ण ही थे। इनमें प्रमुख ये थे—

वैखानस, सात्वत, पांचरात्र, एकान्तिन् आदि। बाण (७ वीं शताब्दी) के समय केवल दो ही भेद पांचरात्र और भागवत नाम से थे। पर शीघ्र ही केवल एक भागवत सम्प्रदाय रह गया और सब आपसी भेद भी मिट गए।

उत्तर भारत में गुप्त राजाओं ने, कर्णाटक में चालुक्यों ने और दक्षिण में पल्लव राजाओं ने भागवत धर्म को स्वीकार करके उसे देश व्यापी बना दिया।

शंकराचार्य—भागवतधर्म इतना लोकव्यापी हो गया था कि बिना इसको साथ लिए काम नहीं बन सकता था। ८ वीं शताब्दी में शंकराचार्य ने वेदान्त को फिर से प्रतिष्ठित किया। उन्होंने अपने अद्वैतदर्शन के साथ भागवतों के भक्तिधर्म को स्वीकार किया। भागवतों ने भी वेदान्त के ब्रह्म और विष्णु को एक मानकर वेदान्तदर्शन को अपना लिया। उसका यह रूप भागवतपुराण में मिलता है।

इस प्रवृत्ति का आगे चलकर बहुत अच्छा फल हुआ। बाद के वेदान्तियों ने भक्ति और वेदान्त को एक कर दिया। कृष्ण ही परब्रह्म हैं। कृष्ण की भक्ति करने मात्र से ही मोक्ष मिल सकता है। इनमें निम्बार्काचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्यमहाप्रभु प्रमुख हैं। भागवत धर्म का यह रूप जो वैष्णव धर्म कहलाता है, आज भी प्रचलित है।

शैवधर्म—भगवान शिव को अपना परम देवता मानकर उनकी भक्ति करनेवाले शिवभागवत कहलाते थे। ये लोग शिव को लिंगरूप में और मूर्तियों के रूप में पूजते थे।

एक ओर शिव संसार के सब कल्याणकारी तत्वों के देवता हैं,

दूसरी ओर वे भूत, पिशाच, राक्षस आदि रुद्र या भयंकर शक्तियों के अधिपति हैं। वे प्रलय करने वाले हैं।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में त्रिमूर्ति की कल्पना में ब्रह्मा सृष्टि के रचनेवाले, विष्णु पालन करने वाले और शिव संहार करने वाले हैं। शिव सबसे बड़े योगीश्वर हैं। एक प्राचीन कल्पना के अनुसार शिव पशुपति हैं। वे पशुरूपी सब जीवों को संसार के पाश या बन्धन से छुडा कर मुक्ति देते हैं।

इस देश में शिव पूजा की परंपरा ५००० वर्ष प्राचीन है। सिन्धुसभ्यता (मोहन जोदड़ो) में लिंगपूजा के प्रमाण मिले हैं। वहां से मिली एक मुद्रा पर योगासन में बैठी हुई योगीश्वर और पशुपति शिव की मूर्ति मिली है। इस मूर्ति को चारों ओर से पशु घेरे हुए हैं, दूसरी मुद्रा पर सांढ़ की बड़ी आकृति बनी है, जिसे विद्वान् शिव का बैल नन्दी मानते हैं।

वेद—वेदों में रुद्र नामक देवता का बहुत वर्णन है। रुद्र क्रोध और संहार के रूप कहे गए हैं। उनको पशुपति और भूतपति भी कहा गया है। वे प्रकृति की कठोर शक्तियों के प्रतीक हैं।

रामायण—रामायण में शिव, रावण आदि राक्षसों के उपास्य देवता हैं। रावण ने शिव की पूजा करके वरदान प्राप्त किए थे। इससे यह मालूम होता है कि भारत के आर्येतर निवासियों के देवता शिव या रुद्र थे।

महाभारत—शिव पूरी तरह आर्यों के देवता मान लिए गए हैं।

शान्ति पर्व के वर्णन से स्पष्ट होता है कि रुद्र ही शिव बन गए। महाभारत युग की दूसरी विशेषता यह है कि भूत, पिशाच, राक्षस, नाग, किन्नर, यक्ष इत्यादि समस्त आर्येतर देवताओं को शिव के परिवार के अन्तर्गत लाकर किसी न किसी रूप में उन्हें शिव से संबन्धित कर दिया गया।

शुंगयुग—शुङ्गयुग आने तक शिव पूर्णरूप से भारतीय समाज में व्याप्त हो जाते हैं। पतंजलि ने शिव के पूजकों को शिव भागवत कहा है। शिव की पूजा, उनके परिवार की कल्पना, भक्ति और मोक्ष से उनके सम्बन्ध को लेकर शिव का पूरा स्वरूप शुङ्गयुग में विकसित हो चुका था। जब शिव की मूर्ति की पूजा होने लगी, तब लिंग व मूर्ति दोनों रूप बनाए गए। मद्रास के पास गुडिमल्लम् से प्राप्त शिवलिंग इसका अच्छा उदाहरण है। शिव लिंग के ऊपर यक्षाकार पुरुषमूर्ति भी बनाई गई है।

कुषाण युग—शुंगकाल में शिव भागवतों का जो भक्ति प्रधान धर्म शुरू हुआ था, उसकी विशेष उन्नति और प्रचार कुषाणों के समय में हुआ। पहले कुषाण राजा वेम कदफ ने अपने आपको माहेश्वर कहा है। उन्होंने अपने सिक्कों पर नन्दिवृषभ के सहारे जटाजूटयुक्त, त्रिशूलधारी शिव की मूर्ति बनवाई या केवल नन्दि वृषभ की। इस युग की मूर्तिकला में शिव के एकमुखी व पंचमुखी लिंगों की मूर्तियाँ मिली हैं। पेशावर के पास से नीले पत्थर की चतुर्मुखी शिव की मूर्ति मिली है। इस युग में मध्य एशिया तक शिव की पूजा का प्रचार था, जो १० वीं शती तक जारी रहा। वहाँ की उग्र स्वभाव की जातियों के लिए भैरव रूप धारी शिव की पूजा अधिक प्रिय थी।

गुप्तकाल—गुप्तकाल में शैव धर्म का बहुत अधिक उत्थान हुआ।

इस युग में शिव परम पुरुष या ब्रह्म के बराबर माने गए। भारतीय धर्म और दर्शन जिस ऊँचे से ऊँचे पद की कल्पना कर सकता है, वह शिव को दिया गया। शिव के बराबर दूसरे कोई देव थे तो विष्णु जिन्हें वैष्णव भागवतों ने वैसा ही उच्च पद प्रदान किया था।

शिव के इस समय दो रूप हो गए थे। एक कल्याणकारी महेश्वर और दूसरा प्रचंड भीमरूप। पहले रूप के मानने वाले माहेश्वर थे। दूसरे रूप के पूजने वाले पाशुपत या लकुलीश मत के थे। पाशुपत उग्र मतावलम्बी, क्रूरकर्मा और सिद्धियों के मानने वाले थे। घोर से घोर तप और आचारों का विधान करते थे। उन्होंने सिद्धियों के लिए हठयोग की कठिन प्रणाली को अपनाया। पाशुपतों के केन्द्र सौराष्ट्र, मथुरा और दक्षिण में विशेष रूप से श्रीपर्वत थे।

पुराणों में शिव की भक्ति और उनके दोनों ही रूपों का वर्णन है। वहाँ शिवपूजा के बारह केन्द्र बताए हैं, जो बारह ज्योतिर्लिंग कहलाते हैं।

उत्तर में गुप्तों के बाद थानेश्वर के वर्धनवंशीय राजा परममाहेश्वर थे। हर्ष बौद्ध था, पर राजकुल का धर्म तब भी माहेश्वर ही था। दक्षिण में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने बड़े सुन्दर शिवमन्दिर बनवाए। राष्ट्रकूट राजाओं का बनवाया एलोरा का कैलास नामक शिवमन्दिर पहाड़ काटकर बनाया गया है। बम्बई के पास एलिफेण्टा में शिव की त्रिमूर्ति भी राष्ट्रकूटों की कला का अद्भुत उदाहरण है। महेन्द्रवर्मन् इत्यादि पल्लव राजाओं ने भी दक्षिण में शिव के सुन्दर मंदिर बनवाए।

राजपूत युग (८वीं से १२वीं शती) में कश्मीर से लेकर दक्षिण में रामेश्वरम् तक और पश्चिम में सोमनाथ से पूर्व में भुवनेश्वर तक

शिव के अनेक विशाल मन्दिर बनवाए गए। उस युग के प्रायः सभी राजा शैवधर्म के अनुयायी हो गए थे।

भक्ति प्रधान धर्म की एक शाखा सूर्य के भक्तों की थी। भक्तों ने पाँच देवता माने हैं—विष्णु, शिव, सूर्य, दुर्गा और गणेश। ये पञ्चायतन कहे जाते हैं। परन्तु भागवतधर्म को विष्णु की भक्ति के कारण ही प्रधानता प्राप्त हुई। शैवों का स्थान भी समाज में ऊँचा था। सूर्यपूजक वैष्णव भागवतों के और दुर्गा एवं गणेश के भक्त शैवभागवतों के ही अवान्तर भेद थे।

अध्याय ७

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था भारतीय समाज का प्रमुख अंग है। वर्ण-व्यवस्था के ऊपर वैदिक काल से लेकर आज तक काफी साहित्य मिलता है जिसमें इसके गुण दोषों पर पर्याप्त विचार हुआ है।

साहित्य—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में कहा है—विराट पुरुष की देह में ब्राह्मण मुख्य हैं, क्षत्रिय भुजाओं के स्थान पर हैं, जो उस विराट पुरुष की जंघाएँ हैं वे वैश्य हैं और शूद्रों का जन्म पैरों से हुआ है। इस प्रकार ये चार वर्ण विराट पुरुष के अंग कहे गए हैं। विराट पुरुष को समाज के रूप में माना जाय तो समाज के इन अंगों का महत्व सम्पूर्ण समुदाय के लिए ही । समाज में किसी वर्ण की स्थिति एकांगी नहीं है। ये परस्पर एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। इनमें से हरेक का अपना विकास भी इस पर निर्भर करता है कि वे अपने द्वारा समुदाय को कहाँ तक स्वस्थ रख सकते हैं।

वैदिक युग में वर्णव्यवस्था उदार थी। एक मंत्र में आंगिरस कहते हैं कि मैं स्तुति रचना करता हूँ, पिता वैद्य हैं और माता पीसने का काम करती है। विभिन्न कार्यों को करते हुए भी हम एक साथ रहते हैं। यद्यपि जाति व्यवस्था का रूप वैदिक काल में माना जा चुका था फिर

भी एक दूसरे के कार्यों को करने में और जाति परिवर्तन होने में भी कोई हिचक नहीं थी।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वंशशुद्धि के अभाव में भी ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के अनेक उदाहरण हैं। दीर्घतमा ऋषि की माता उशिज शूद्रा दासी थी। दीर्घतमा की पत्नी भी ब्राह्मणी नहीं थी, पर उनके पुत्र ऋषि हुए। एक अन्य मंत्रद्रष्टा ऋषि ऐलूषकवष शूद्र होते हुए भी ब्राह्मण बने। उपनिषदों की सबसे विचित्र कथा सत्यकाम जाबाल की है। सत्यकाम की माता इधर उधर घूमती थी। इस स्थिति में सत्यकाम का जन्म हुआ। गौतम ऋषि के सामने सत्यकाम ने अपने जन्म के विषय में यह बात सच सच कह दी। सत्य के बोलने से उसको ब्राह्मण माना गया। सत्यकाम बाद में ब्रह्मज्ञानी हुए। उपनिषद् युग में ऐसी ही लचीली समाजव्यवस्था का परिचय मिलता है। अजातशत्रु, जनक, अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि आदि क्षत्रिय भी बड़े ब्रह्मज्ञानी हुए। ब्राह्मण ऋषि भी उनके शिष्य होते थे।

वैदिक युग के इतिहास में हमें वर्ण या जाति से ही किसी की श्रेष्ठता का पता नहीं चलता। कर्म और ज्ञान ही उसके प्रमुख आधार थे। ऐतरेय ब्राह्मण में एक विख्यात कर्मकांडी कहते हैं कि उनकी सन्तानें गुण के अनुसार ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कुछ भी हो सकती हैं।

रामायण—रामायण काल में वर्ण व्यवस्था खूब संगठित थी। रामायण में यहाँ तक कहा है कि जन्म से जाति का महत्व था। साथ ही जाति परिवर्तन संभव नहीं था। फिर भी उसमें कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिनसे पता चलता है कि उस समय की आर्येतर संस्कृतियों के प्रति घृणा का भाव नहीं था। इनमें से निषाद, वानर, ऋक्ष, गृद्ध इत्यादि जातियाँ आर्यों के मेलजोल में आती थी। यह आवश्यक था कि इन

लोगों का आर्यों से सद्भाव हो। शबरी को ब्रह्मवेत्ता और तपस्विनी कहा गया है।

महाभारत—वर्ण व्यवस्था के बारे में महाभारत में कुछ कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वन पर्व का अजगर और युधिष्ठिर संवाद ध्यान देने योग्य है। अजगर ने प्रश्न किया, "हे राजन्, ब्राह्मण कौन है ?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "सत्य, दान, क्षमा, शील, सहृदयता, तप, दया, जिसमें दिखाई पड़ें, वही ब्राह्मण है।" अजगर को संतोष न हुआ और उसने और निश्चित मत चाहा, "लोक में तो चातुर्वर्ण्य प्रमाण माना जाता है। यदि किसी शूद्र में आप के कहे गुण हों तो क्या वह ब्राह्मण हो जायगा ?" युधिष्ठिर ने कहा, "शूद्र में आचार के ये लक्षण हों तो वह शूद्र नहीं है। ब्राह्मण में यदि ये लक्षण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं है। जिसमें चरित्र है, वही ब्राह्मण है। जिसमें चरित्र नहीं है वही शूद्र है।" अजगर ने युधिष्ठिर को अन्तिम तर्क दिया, "यदि तुम्हारे मत से, चरित्र से ही ब्राह्मण होता है तब तो बिना चरित्र और कर्म के जाति व्यर्थ है।" युधिष्ठिर ने अपना निश्चित मत दिया, "हे सर्प, कौन सी वह जाति है जिसमें वर्ण का मेल नहीं हुआ। वर्णों की आपसी मिलावट के कारण जाति की ठीक पहचान की बात उठाना बेकार है। इसलिये जो तत्वदर्शी हैं उनके मत में शील (चरित्र) ही मुख्य है। जन्म के बाद यदि वर्णों के संस्कार भी किए जाएँ, पर अगर किसी में चरित्र नहीं हुआ तो मैं उसे वर्णसंकर ही समझूँगा। मेरा यह निश्चित मत है कि जिस व्यक्ति में निखरा हुआ चरित्र है वही ब्राह्मण है।"

गीता में कहा है कि पण्डित लोग समदर्शी होते हैं। यह विद्वान ब्राह्मण है, यह अस्पृश्य शूद्र है, यह पशु है इस प्रकार की भेद-बुद्धि उसमें नहीं होती। कृष्ण ने कहा है—"चार वर्ण मैंने गुण, कर्म और स्व-

भाव से बनाए हैं।" महाभारत का दृष्टिकोण सदैव यह रहा है कि मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। जन्म से जिस परिवार में कोई उत्पन्न होता है वह उसी परिवार के गुण, कर्म और सम्मान को पाता है, परन्तु जीवन में सम्मान प्राप्त करने के लिए अपने कार्य ही माप दण्ड स्थिर करते हैं।

गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र—भारतीय समाज के गृहस्थ धर्म को नियमित करने के लिए इसमें चारों वर्णों के आचार, व्यवहार और कर्तव्य बताए गए हैं। आर्यों के समाज में जो अन्य जातियाँ मिल रही थीं उनकी समाज में क्या स्थिति हो और उनके क्या कार्य हों, इसको भी गृह्यसूत्रों में निश्चित किया गया है।

बौद्ध साहित्य—बुद्ध ने जन्म से जाति-व्यवस्था मानने का घोर विरोध किया था। ब्राह्मणों के प्रति उनको सबसे अधिक आक्रोश था। बुद्ध केवल जन्म से ही ब्राह्मण होने पर व्यक्ति को सम्मान का पात्र नहीं मानते। बुद्ध के मत से सामाजिक जीवन में सब बराबर हैं। धर्म के लिए वे कर्मकांडी ब्राह्मण की आवश्यकता नहीं मानते। उनके मत से केवल उनके धर्म का भिक्षु जो अर्हत की पदवी प्राप्त कर लेता था, धर्म के कार्यों में सबसे अधिक सम्मान पाने का अधिकारी था।

अर्थशास्त्र—अर्थशास्त्र में वर्णों का समाज और शासन की दृष्टि से विवेचन किया गया है। राजा को कौटिल्य ने वर्ण और आश्रमों का रक्षक कहा है। कौटिल्य की दृष्टि में समाज में धर्म की रक्षा और स्थापना के लिए ब्राह्मण की अनिवार्य आवश्यकता है। उस श्रमण या भिक्षु को जो अपने आश्रमों के कर्तव्य को बिना पूरा किए संसार त्यागी बना है वे सबसे हीन मानते हैं। कौटिल्य ने दंड नीति में वर्णों के अनुसार भेद किया है। जन्म से वर्ण मानते हुए भी कौटिल्य अपने कर्म और ज्ञान से हीन ब्राह्मण को कुछ भी सम्मान नहीं देते।

स्मृति—स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे मुख्य है। मनु ने चारों वर्णों का कार्य विभाजन किया है। उनके अनुसार कोई भी अपनी जाति नहीं बदल सकता। ब्राह्मण का स्थान सबसे ऊपर है। मनु के अनुसार जो केवल जन्म से ही ब्राह्मण है वह भी पूज्य है।

मनु के समय एक विशाल समस्या भारतीय समाज के सामने थी। मनु को जाति-व्यवस्था का पुनर्गठन करना था। बुद्ध द्वारा वर्ण व्यवस्था को कुछ भी सम्मान न दिए जाने से और बौद्ध राजाओं द्वारा ढीलढाल करने से बड़ी विचित्र स्थिति समाज में हो गई। दूसरी समस्या यह थी कि भारतवर्ष में बहुत से ऐसे गण और जन थे जो अपने गौरव और वीरता के कारण आर्यों में मिल गए थे। ये लोग पहले जाति व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं थे। इनमें लिच्छवि, दक्षिण की जातियाँ और बहुत सी आयुधजीवी जातियाँ थीं। साथ ही बहुत से विदेशी जैसे यवन, शक, पल्हव इत्यादि भी भारतवर्ष में आ जमे थे। इनको भी समाज में स्थान देना था। अन्य और बहुत से छोटे छोटे गण थे जो अपनी राजनैतिक सत्ता खो चुके थे पर छोटे छोटे समूह में अपनी सामाजिक व्यवस्था रख रहे थे उनको भी भारतीय समाज में स्थान देना था। मनु ने इन सबको समाज में उचित स्थान देने का विधान किया है। लिच्छवि इत्यादि वीर जातियों को क्षत्रिय कह कर चातुरवर्ण्य व्यवस्था वाले समाज में स्थान दिया गया।

पतंजलि—महाभाष्य में शूद्रों के बारे में कुछ उल्लेख हैं। पतंजलि के समय आर्यावर्त की सीमा सिकुड़ गई थी। भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर प्रान्त शक, यवनों के अधीन हो जाने के कारण बाहर जा पड़े थे। इन स्थानों में आर्यों की वर्णाश्रम व्यवस्था नहीं चलती थी। पतंजलि ने दो प्रकार के शूद्र बताए हैं—निरवसित और अनिरवसित,

निरवसित वे लोग जो आर्यावर्त से बाहर थे । इनमें शक, यवन प्रमुख थे । अनिरवसित वे शूद्र जो आर्यावर्त के भीतर थे ।

याज्ञवल्क्य—याज्ञवल्क्य जाति के बारे में मनु की व्यवस्था को मानते हैं । मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही प्रतिलोम विवाह के बड़े विरोधी थे । यदि छोटी जाति का मनुष्य अपने से ऊंची जाति की स्त्री से विवाह करे तो वह प्रतिलोम कहलाता है । अनुलोम में ऊंची जाति का मनुष्य अपने से हीन जाति की स्त्री से विवाह कर सकता है, जिसे मनु किसी हद तक मान्य करते हैं ।

पुराण—पुराणों में वर्णों के कर्तव्य स्पष्ट रूप से कहे गए हैं । पुराण वर्णों में एक दूसरे के कर्तव्यों का मिश्रण नहीं चाहते । पुराण-कार जातियों में आपस में विवाह होकर वर्णसंकर को उत्पत्ति पसंद नहीं करते । पुराणों ने भी अनुलोम विवाह की आज्ञा दी थी और प्रतिलोम का बहुत निषेध किया है । पुराणों ने वर्णों और जातियों के लिये एक नये धर्म और सामाजिक आचार का विधान किया जिसके आधार पर हिन्दू समाज का संगठन हुआ है । वेदों का कर्मकांड केवल उच्च जातियों के लिये ही था । परन्तु भक्ति का मार्ग सब वर्णों के लिये समान रूप से बताया गया । वेदों का पठन पाठन केवल ब्राह्मणों के लिये ही था । उनकी जगह पुराण, महाभारत, रामायण जैसे धार्मिक ग्रंथों की कथा वार्ता का सबको अधिकार दिया गया ।

पुराणों ने कुछ नये धार्मिक तत्त्व समाज को दिए जैसे दान, स्नान, तीर्थयात्रा, व्रत, उपवास, मूर्ति-पूजा, कथा-श्रवण और भक्ति । ये चारों वर्णों के लोगों के लिये समान रूप से विहित थे । इनके विधान से जैसे ब्राह्मण मुक्त हो सकता था वैसे ही शूद्र भी ।

पुराणों के इस नये स्वरूप ने भारतीय समाज को एक संगठन में ढालने का बड़ा कार्य किया । भक्त और सन्त किसी भी जाति में हो सकते थे और सब समाज के लिये पूज्य थे ।

वे धर्म का उपदेश भी दे सकते थे । इसका सबसे अच्छा उदाहरण आलवारों का है । उनमें से अधिकांश शूद्र थे । पर वे भक्ति धर्म का उपदेश करते थे तथा उनके गीत सभी लोग बड़े सम्मान से गाते थे । इनमें तिरुकुरल के लेखक श्री तिरुवल्लुवर प्रमुख थे । आज भी इनका स्थान भक्ति साहित्य में सर्वोपरि है । महाराष्ट्र के नामशूद्र भी इसी वर्ग के थे और अपने गुणों तथा धार्मिक रचनाओं के लिये समाज के सब लोगों में पूज्य थे ।

मीमांसक और वेदान्ती—मीमांसक प्राचीन वैदिक धर्म के और उसमें भी यज्ञों के पक्षपाती थे, वेदान्ती उपनिषदों के धर्म के । पर ये दोनों ही जाति और वर्ण के बारे में बड़े कठोर थे । कुमारिल ने जाति-व्यवस्था को बहुत कट्टर बनाया । शंकर ने भी इसी व्यवस्था को माना । उन्होंने कहा है कि यदि शूद्र वेद सुन ले तो उसके कान में पिघला शीशा डालकर मार डालना चाहिए । यदि वह गलती से किसी वेदमन्त्र का उच्चारण करे तो उसको निश्चित मृत्यु दण्ड मिलना चाहिए । यदि शूद्र किसी ब्राह्मण पर आक्रमण कर दे तो चाहे ब्राह्मण का ही अपराध रहे राजा शूद्र को ही मृत्यु दण्ड दे । यदि ब्राह्मण का थोड़ा सा पैसा भी शूद्र के पास रह जाय तो वह शूद्र को बेचकर भी वसूल कर सकता है । ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह किसी का पैसा दे ।

कुमारिल और शंकर की व्यवस्था एक प्रकार की प्रतिक्रिया थी । सचमुच इस घोर प्रतिक्रिया से बहुत हानि हुई । बाद में कई धर्मो-

पदेशकों ने इसको सुधारना चाहा जिनमें लिंगायत धर्म के प्रचारक वासव प्रमुख थे। मध्यकालीन भारतीय सन्तों ने जैसे—नानक, रामानन्द, कबीर और दक्षिण में ज्ञानेश्वर, एकनाथ और तुकाराम इत्यादि ने भी जाति की कट्टरता को दूर करने के लिए बड़ा कार्य किया परन्तु इतना सब होने पर भी जाति व्यवस्था की कठोरता न जा सकी। दक्षिण भारत में तो इस कट्टरता की पूरे जोर पर जड़ जम गई, जिसका रूप आज भी कुछ न कुछ बाकी है।

गुण दोषों की संस्कृति

जाति की उत्पत्ति—इस प्रसंग में वर्ण और जातियों की संख्या वृद्धि के कारणों पर भी विचार करना आवश्यक है। सबसे प्राचीन और मुख्य कारण इस देश में बसनेवाली जातियों का मौलिक बँटवारा था। इस देश में आर्य जाति अत्यन्त शक्तिशाली, सुसभ्य और संगठित थी। आर्यों का सम्पर्क यहाँ की आदिवासी जातियों से हुआ। उन जातियों का सामान्य नाम जिसे वैज्ञानिक भी आज स्वीकार करते हैं, निषाद जाति था। निषाद जातियों का अधिक विस्तार था। वे दक्षिणी समुद्र से गंगा की अन्तर्वेदी तक फैली हुई थीं और संभव है उससे भी उत्तर में वे बसी हों। निषादों में भी सैकड़ों भेद और अवान्तर जातियाँ थीं। जैसे—मुंडा, शबर, हो, संथाल, कोल, भील आदि। उनके वंशज आज भी जीवित हैं। आर्यों का इनके साथ व्यापक संपर्क हुआ और कई कारणों से राजनीतिक टक्करें भी हुईं जैसा कि प्रायः ऐसी स्थिति में हुआ करता है। किन्तु निषाद जाति को धर्म, भाषा और जीवन की शक्ति भी कम न थी। अतएव एक ऐसा उपाय निकाला गया जिसके फलस्वरूप दोनों जातियों में समन्वय हुआ। भाषा के अनेक शब्द आर्य भाषा में निषाद भाषा से आकर मिल गए। लेकिन सबसे बड़ा चमत्कार धर्म के क्षेत्र में हुआ। निषादों

के सैकड़ों देवी, देवता, पूजा पद्धति और जन विश्वास आर्य धर्म में घुल मिल गए। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों जातियाँ एक दूसरे के निकट आईं और यह समस्या पैदा हुई कि निषाद जाति को आर्यजाति की विशाल समाज व्यवस्था में स्थान दिया जाय। दोनों की समाज व्यवस्था का नया रूप वह स्थिर हुआ जिसका नमूना आज के हिन्दू समाज का संगठन है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता सैकड़ों और हजारों जातियों के समुदाय हैं जो अपने अपने वर्ग में स्वायत्त होते हुए अपने से ऊपर और अपने से नीचे के समुदायों के साथ निश्चित सम्बन्धों से बँधे हुए हैं और स्वतंत्रता के साथ आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक जीवन के पारस्परिक व्यवहार करते हैं। इस प्रकार की सुविधा-जनक पद्धति दोनों के लिए हितकर हुई। इसीलिए यह पद्धति इतनी टिकाऊ हुई। यह बाहरी धक्कों से हिली नहीं यही इसकी सफलता का बड़ा प्रमाण है। इसी के साथ यह भी प्रवृत्ति हुई कि सभ्यता की दौड़ में जो जातियाँ पीछे थीं वे आर्यों से जातीय संस्कार ग्रहण करके ऊँची उठने लगीं और उन पर हिन्दू धर्म का चढ़ा हुआ रंग गहरा होने लगा। जो जाति हिन्दूकरण की इस पद्धति में पड़ गई उसने सबसे पहले अपने मृतकों को गाड़ने के बजाय उनका दाह संस्कार शुरू किया। ऐसे ही धार्मिक कथा वार्ता, तीर्थ, पूजा, देवी-देवता की प्रथाओं को प्रत्येक जाति अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण करने लगी। उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक यह एक बहुत शक्तिशाली चक्र चल पड़ा जिसने अन्त में सारे देश को एक धर्म, एक जातीयता, एक संस्कृति के साँचे में ढाल दिया। जो प्रक्रिया आर्य और आदिवासी निषाद और शबर आदि के साथ हुई वही द्रविड़, किरात (मंगोल) आदि सभी अन्य जातियों के साथ घटित हुई। सबने स्वेच्छा से हिन्दूकरण की इस राष्ट्रीय पद्धति को माना। फल यह हुआ कि देश में हजारों ही जातियाँ बन गईं जिनके नाम जन गणना की रिपोर्टों में दिए रहते हैं। पर यह

समझना भूल होगी कि ये जातियाँ आपस में भेद डालने के लिए थीं। बल्कि सच बात तो यह है कि प्रत्येक जातीय समुदाय अपनी इकाई को स्वतंत्र और स्वायत्त रखते हुए देश और समाज की बड़ी इकाई का अभिन्न अंग बन गया। इन जातियों ने सैकड़ों हजारों पेशे चुन लिए थे। मृतप और चांडाल से लेकर बढ़ई, लुहार, नाई, धोबी, कहार आदि तरह तरह का काम करनेवाले पेशेवर लोग थे जिनके दर्जे समाज में ऊँचे और नीचे भी माने जाते थे। खेती किसानी का पेशा ऐसा था जिसमें भिन्न-भिन्न जातियों के अधिक से अधिक संख्यक लोग खप जाते थे। इसी के साथ गाँवों की सादी और स्वाभाविक रहन-सहन थी जिसमें जातियों के भेद तो रहते लेकिन ऊँच नीच का तीखापन और आर्थिक असमानता बहुत कुछ दबी रहती थी। सबको ऐसा अनुभव होता था कि सब गाँव की सामूहिक जीवन की इकाई के अङ्ग हों और साथ यात्रा के लिए एक नाव पर सवार हों। राजनैतिक एकता तो इस देश में बहुत कम हो सकी लेकिन सांस्कृतिक एकता के विकास में भिन्न-भिन्न जातियों की इस व्यवस्था ने बहुत योग दिया।

वर्णव्यवस्था के दोष—इस प्रकार के जातीय संगठन के जहाँ कई गुण थे वहाँ उसकी त्रुटियाँ भी थीं। समाज में जो जाति नीची श्रेणी में मान ली गई उसे कई प्रकार की सुविधाओं से वञ्चित रहना पड़ा। उन्हें मानवोचित और न्याय्य अधिकार भी प्राप्त नहीं थे। इस दोष की ओर कई बार सुधारकों का ध्यान गया किंतु विवाह, खानपान और छुआछूत के बन्धन बने ही रहे। जाति के सम्बन्ध में बड़ी बात ध्यान देने की है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इनमें कोई भी ऐसा नहीं है, कि जिसमें सैकड़ों जातियाँ न हों और उनके भीतर भी खान-पान और ब्याह शादी की रोक थाम या भेद न हों। शूद्रों में ही नीचे

से ऊपर तक जितने भेद हैं उनकी संख्या और सब वर्णों की जातियों को मिलाकर भी सबसे अधिक होगी। वे भी आपस में छूआछूत और खान-पान के सम्बन्ध में उसी नीति को बरतते हैं जिसको अन्य वर्ण उनके साथ। जातिसंस्था ने आर्थिक पेशों को ज्यादातर पुश्तैनी बना दिया था जिससे लाभ तो यह हुआ कि शिल्पों की निपुणता पीढ़ी दर पीढ़ी कायम रही और बढ़ती गई और हानि यह हुई कि व्यक्तियों का स्वातन्त्र्य सीमित हो गया।

अध्याय ८

भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रसार

एशिया महाद्वीप में भारतवर्ष की भौगोलिक स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। एशिया के दक्षिण में बीचोंबीच में भारतवर्ष फैला हुआ है। बहुत प्राचीन काल से एशिया के प्रमुख संस्कृति केन्द्रों से भारतवर्ष का सम्बन्ध रहा है। हिमालय की ऊँची चोटियाँ और दक्षिण के समुद्र भी भारतीयों को विदेश में जाने, अपनी संस्कृति का प्रसार करने और बड़े पैमाने पर व्यापार करने से नहीं रोक सके। वस्तुतः एशिया की समृद्धि और उदय का भारतीय इतिहास से बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। संपूर्ण एशिया के इतिहास और संस्कृति पर भारत का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा।

प्राचीन सम्बन्ध—संसार में पाश्चात्य विद्वानों के मत से मेसोपोटामिया की सुमेर और अक्कदी संस्कृतियाँ एवं मिश्र में नील नदी की घाटी की संस्कृति सबसे प्राचीन है। भारतवर्ष में सिंधु के प्रदेश की सभ्यता भी इन्हीं की समकालीन थी। मेसोपोटामिया के उर और अन्य नगरों में सिंधु सभ्यता के कारीगरों की बनाई हुई सुन्दर कलापूर्ण वस्तुएँ मिली हैं। मिश्र के प्राचीन सुरक्षित शवों (ममियों) पर भी भारत की महीन मलमल लपेटी हुई है। प्राचीन संसार को कपास और रुई के वस्त्र भारत की ही देन है। प्राचीन समुद्री व्यापार के उल्लेख हमें वैदिक साहित्य और रामायण में मिलते हैं। महाभारत में तो विदेशों से आवागमन और व्यापार का बहुत विशद वर्णन है। जातककथाओं में बावेरु (बेबीलोन) में भारतीय व्यापारियों के जाने और धन कमाने का उल्लेख है।

अशोक—अभी तक भारतीय विदेशों में व्यापार के लिये आते जाते थे। अशोक ने (२७२–२३२ ई० पू०) उस समय के संसार से अपने राजनैतिक सम्बन्ध बनाए। अशोक ने पाँच राजाओं के नाम दिए हैं—सीरिया के अन्तियोक, मिश्र के टालेमी, साइरीन (उत्तरी अफ्रीका) के मग, मकदूनिया के एंटिगोनस, और एपिरस (ग्रीस का एक भाग) के अलेक्जेंडर। इनसे मौर्य साम्राज्य के राजनैतिक संबन्ध थे। अशोक ने इन लोगों के देशों में अपने धर्म प्रचारक भेजे और वहाँ पर चिकित्सालय खुलवाए। अशोक के समय में हुई बौद्ध सभा में यह निर्णय किया गया कि विदेशों में बौद्ध प्रचारक भेजे जाएँ। मज्झिम नामक भिक्षु हिमालय के दूर के प्रदेशों में गए। दक्षिण पूर्वी द्वीप समूहों में शोण और उत्तर गए। यवन देशों में भी एक अच्छा प्रचारक मंडल भेजा गया।

इसके बाद भारतीयों की दूसरे देशों में जाने और वहाँ अपना धर्म एवं संस्कृति फैलाने को जो परंपरा शुरू हुई वह कम से कम पन्द्रह सौ वर्षों तक चलती रही। भारतीय प्रचारक जिन देशों में गए उनमें लंका, मध्य एशिया, चीन, जापान, बर्मा, मलाया, सुमात्रा, जावा इत्यादि हैं। हिंद चीन में स्याम को लेकर तीन बड़े भारतीय उपनिवेश बने, जिनमें चम्पा और कंबुज भी थे।

लंका—लंका या सिंहल ने धर्म, भाषा, कला और स्थापत्य में भारत से बहुत कुछ पाया है। प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार भारत के एक राजकुमार ने ईसा से छः सौ वर्ष पहले लंका में अपना राज्य कायम किया। भारत में वस्तुतः रामायण के समय से लंका एक घरेलू शब्द बन गया। किन्तु इतिहास में अशोक ने अपने दूसरे शिलालेख में ताम्रपर्णी (लंका) का जिक्र किया है जहाँ उन्होंने बौद्ध प्रचारक भेजे थे। लंका में बौद्ध धर्म फैलाने का काम अशोक के पुत्र महेन्द्र और

कन्या संघमित्रा ने किया। संघमित्रा बोधगया से बोधिवृक्ष की एक शाखा ले गई थी जो लंका के जय महाबोधि विहार में आज भी बढ़ रही है। इसी प्रकार लंका के बौद्धों ने पाली बौद्ध साहित्य को आज तक सुरक्षित रखा है।

गुप्त काल के एक लेख से पता चलता है कि बोध गया में लंका के एक बौद्ध भिक्षु ने एक मन्दिर बनवाया था। समुद्रगुप्त के प्रयाग अभिलेख में कहा गया है कि लंका के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार करके उसे भेंट दी थी। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्रगुप्त से आज्ञा लेकर बौद्ध गया में एक विशाल विहार बनवाया। सातवीं सदी में जब युआन्-च्वाङ् आया उस समय इस विहार में एक हजार भिक्षु थे। लंका के सिगिरिया (सिंहगिरि) राजप्रासाद में कुछ भित्तिचित्र मिले हैं, जो अजन्ता की शैली में हैं। पोलन्नारुआ (प्राचीन पुलस्त्यपुर) के मंदिर भी भारतीय शैली के हैं।

बर्मा—बर्मा को प्राचीन साहित्य में सुवर्णभूमि कहा गया है। बर्मा में ईसवी सन् के आसपास ही भारतीयों के उपनिवेश बन गए थे। पाँचवीं से आठवीं शताब्दी तक बर्मा पर भारतीय संस्कृति का बड़ा प्रबल प्रभाव रहा। बर्मा की लिपि, धर्मशास्त्र और धर्म भारत की ही देन है। कला और स्थापत्य में भी बर्मा पर भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। पगान (प्राचीन अरिमर्दनपुर) और प्रोम (प्राचीन श्री क्षेत्र) के पास मिले एक प्राचीन मन्दिर और बुद्धमूर्तियाँ एवं ताड़ और स्वर्ण पत्रों पर लिखे हुए धर्म ग्रंथ आदि इसका प्रमाण हैं।

चंपा—चंपा एक हजार वर्ष तक भारयीय संस्कृति का प्रधान केन्द्र रहा है। तीसरी शती ईसवी में चंपा में हिन्दू राजा राज्य करते थे। चौथी शताब्दी में भद्रवर्मन् नामक राजा ने मिसोन में एक विशाल शिव मन्दिर बनवाया जो बहुत समय तक पूर्व में प्रसिद्ध तीर्थ रहा।

आठवीं शती तक संस्कृत भाषा और भारतीय हिन्दू धर्म का इतना प्रचार हो गया था कि वह भारत का ही एक प्रदेश कहा जाने लगा। चंपा में पाए गए कुछ संस्कृत लेख प्राचीन भारत में प्रचलित संस्कृत कविता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। नवीं शती में यशोवर्मन् नामक राजा ने ईश्वरपुर (आधुनिक अंकोरथोम) में एक विशाल शिव मन्दिर बनवाया। उसके पास ही एक दूसरा मंदिर जो अंकोरवाट कहलाता है सूर्यवर्मन् ने बारहवीं शती में बनवाया। अंकोरवाट का मंदिर इतना विशाल और भव्य है कि संसार में एक आश्चर्य माना जाता है। इन मंदिरों का पूरा क्षेत्रफल दस हजार एकड़ है यानि आधुनिक पेरिस नगर का तीन चौथाई। अंकोरवाट के मन्दिर में दीवारों पर रामायण और महाभारत की पूरी कथा अत्यन्त सुन्दर रूप में चित्रित की गई है। इनको विद्वानों ने दीवार पर तराशे हुए महाकाव्य कहा है।

हिन्देशिया—हिन्देशिया के द्वीपों में भारतीय व्यापार के लिए जाया करते थे। ईसा की चौथी और पांचवीं शती के लेखों से पता चलता है कि उस समय जावा (प्राचीन यवद्वीप) में तारुमा नाम के हिन्दू राजवंश का शासन था। हिन्देशिया का स्वर्णयुग शैलेन्द्र राजवंश का शासनकाल (आठवीं और नौवीं शती) माना जाता है। इस युग में भारत से बहुत अधिक यातायात व आदान-प्रदान होता था। शैलेन्द्रों का केन्द्र सुमात्रा (प्राचीन सुवर्ण द्वीप) में श्रीविजय नामक राजधानी थी। एक समय श्रीविजय का साम्राज्य समूचे दक्षिण पूर्वी एशिया में फैल गया था। शैलेन्द्रों का भारत और अन्यान्य पड़ोसी देशों से व्यापारिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक संबन्ध था। बौद्धमत के अनुयायी होने से इन राजाओं ने अपने साम्राज्य में बहुत से बौद्ध विहार और मन्दिर बनवाए। नालंदा विश्वविद्यालय में भी इन्होंने विहार बनवाया। नालंदा से मिले एक

ताम्रपत्र से पता चलता है कि सुवर्णद्वीप के शैलेन्द्र सम्राट बालपुत्र देव ने मगध के राजा से अनुरोध किया कि वे उनके लिये पाँच गाँव खरीद दें और नालंदा विश्वविद्यालय को दें। उनसे वहां के विदेशी छात्रों के लिए स्थापित विहार का खर्च चल सके। जावा का बोरो-बुदुर का बौद्धमन्दिर शैलेन्द्रों ने बनवाया था। यह मंदिर अपने अनोखे स्थापत्य और अलंकरण की कारीगरी के लिये प्रसिद्ध है। दीवारों पर भारत और इन देशों के जीवन से सम्बन्धित उभरे हुए अद्भुत चित्र बने हैं जो कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

नवीं और दसवीं शताब्दियों में जावा और सुमात्रा से आकर अनेक बौद्ध दक्षिण में बस गए थे। मद्रास के समुद्र तट पर नाग-पट्टन नामक एक प्राचीन स्थान पर मिली मूर्तियों व लेख से पता चलता है कि चोल सम्राट राजराजने दो विशाल बौद्ध विहार बनवा दिए थे। इन विहारों में १५ वीं सदी तक विदेशी यात्री बराबर ठहरते थे।

मलाया—मलाया (प्राचीन मलयद्वीप) और उसके पास के केडा (प्राचीन कटाह) इत्यादि द्वीपों में भी भारतीय राज्य स्थापित हुए थे। इन स्थानों से बहुत सी प्राचीन बस्तियों और मन्दिरों के अवशेष मिले हैं। साथ ही गुप्तकालीन और उसके बाद के युग की मूर्तियाँ बड़ी मात्रा में मिली हैं। मलाया के वेलेजलो प्रदेश में राँगा-माटी (बंगाल) के एक भारतीय महानाविक बुधगुप्त का संस्कृत अभिलेख मिला है।

चीन—चीन और भारत के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का इति-हास पहली शती ईसवी से लेकर बारह सौ वर्ष तक जाता है। ६५ई० में चीनी दूतमण्डल के साथ दो भारतीय भिक्षु कश्यप मातंग और धर्मरक्ष चीन गए। इन्होंने चीन में बौद्धधर्म की नींव जमाई। इसके

बाद भारतवर्ष से भारतीय विद्वानों का एक प्रवाह बराबर चीन की ओर बहता रहा। चीनी यात्री बहुत बड़ी संख्या में भारतवर्ष में धर्म की शिक्षा व तीर्थयात्रा के लिये आते रहे। इनमें गुप्त युग में आने वाला फाह्यान और हर्ष के समय में युवानच्वाङ् मुख्य हैं। बौद्ध और अन्य भारतीय साहित्य चीनी भाषा में अनूदित होता रहा। यह सारा सहित्य चीनी त्रिपिटक की पांच हजार पोथियों में आज भी विद्यमान है। बहुत से ग्रन्थ जो भारत में लुप्त हो गए हैं चीनी अनुवादों में मिले हैं।

हर्ष के समय में यह संबंध काफी घनिष्ठ हो गया था। चीन में भारतीय दूत मण्डल भेजे गए और भारत में चीनी दल आया। प्रसिद्ध चीनी विद्वान युवानच्वाङ् हर्ष की राजसभा में आया और दस वर्ष तक नालंदा विश्वविद्यालय में रहकर भारतीय विद्याओं का अध्ययन करता रहा। भारत से लौटकर उसने नालंदा के आचार्यों को तीन पत्र संस्कृत में लिखे और उनके उत्तर प्राप्त हुए। इससे मालूम होता है चीन और भारतवर्ष के बीच नियमित आवागमन था।

बौद्ध गया से कई चीनी लेख मिले हैं जिनसे प्रकट है कि मध्य युग तक बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने चीनी भारतवर्ष में निरन्तर आते रहते थे।

चीन ने बौद्धधर्म को अपनाकर इसका बहुत विस्तार किया। चीन से होकर बौद्धधर्म और भारतीय संस्कृति मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया और जापान में फैली। जापान के धर्म, आचार, मंदिर, मूर्तिनिर्माण व कला पर अपनी विशेषताओं के रहते हुए भी भारत की अमिट और गहरी छाप है। जापान के नारा, तोदाइजी और होरिउजी के विहारों में संचित अगाध कलाराशि इसकी साक्षी है।

तिब्बत—कैलाश और मानसरोवर का प्रदेश होने के कारण तिब्बत भारत के बहुत निकट रहा है। इन तीर्थों की यात्रा के लिए भारतीय महाभारत के समय से ही जाते रहे हैं। ईसा की सातवीं शती में तिब्बत ने बौद्धधर्म व ब्राह्मी लिपि को अपनाया और उन्हें बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ आज तक सुरक्षित रखा है। इसका श्रेय तिब्बत के राजा स्त्रोङ्-छन्-गम्पो को है। चीन की तिब्बत में बहुत सा भारतीय साहित्य अनूदित हुआ जो आज भी सुरक्षित है। इनमें सबसे उल्लेखनीय सुवर्णाक्षरों में लिखी हुई 'प्रज्ञापारमिता' और कंजुर-तंजुर हैं। कंजुर तिब्बत में गए भारतीय विद्वानों और तिब्बतियों की रचनाओं का संग्रह है। तंजुर में भारतीय साहित्य के अनुवादों का विशाल संकलन है। बुद्ध की धातुमूर्तियां और बौद्ध कथाओं के रेशमी चित्रपट तिब्बती कला की विशेषताएँ हैं।

भारतीय आचार्य शान्तिरक्षित और पद्मसम्भव आठवीं शती में तिब्बत गए। पद्मसम्भव ने वहां सम्-ये नामक विहार बनवाया। तिब्बत के लामाधर्म और लामाओं के राजनैतिक संगठन का श्रेय पद्मसम्भव को ही है। इसके बाद आचार्य कमलशील ने तिब्बत जाकर शास्त्रार्थ में विरोधियों को हराया। समयानुसार तिब्बत में बहुत से भारतीय पंडित गए जिन्होंने उस देश में भारतीय संस्कृति को कण-कण में व्याप्त कर दिया। ग्यारहवीं शती विक्रमशिला और नालंदा के अध्यक्ष दीपंकर श्रीज्ञान अतिशा तिब्बत पहुँचे। इन्होंने तिब्बत के बौद्धधर्म को नये रूप से संगठित किया। इसी समय नेपाल की सीमा के पास साक्या विहार बना। इस विहार ने तिब्बत में लामाओं या बौद्ध भिक्षुओं का प्रभाव बहुत बढ़ाया।

नेपाल—नेपाल से भारत का सम्बन्ध बहुत पुराना है। यह कहा जाता है कि नेपाल की प्राचीन राजधानी ललितपत्तन को अशोक की

पुत्री चारुमित्रा और उसके पति अग्निब्रह्मा ने बसाया था। भारत के लिच्छवि लोग ईस्वी सन् के आसपास नेपाल गए और उन्होंने अपना राज्य कायम किया। अपने साथ वे लोग भारतीय संस्कृति को भी ले गए थे। नेपाल की भाषा, साहित्य, धर्म और कला पर भारत का गहरा रंग है। मुस्लिम आक्रमण के कारण जब बंगाल और बिहार के बौद्ध विहार तोड़ दिए गए, तो बहुत से भिक्षु नेपाल भाग गए। वे अपने साथ बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ भी ले गए जो आज-तक वहां सुरक्षित हैं।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से पता चलता है कि नेपाल भी उसके अधीन राज्यों में से था। गुप्तों के समय में नेपाल की सस्कृति पूर्णरूपेण भारतीय हो गई। नेपाल के सामाजिक संगठन में भी भारत की तरह से चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हो गई। भाषा की दृष्टि से भी नेपाल भारत का बहुत ऋणी है। शैवधर्म का नेपाल में बहुत प्रचार हुआ। उसके बाद बौद्धधर्म का स्थान है। नेपाल का पशुपतिनाथ का मन्दिर बहुत प्राचीनकाल से ही भारतीयों के लिए तीर्थस्थान रहा है। नेपाली शिव के घोर रूप के उपासक मालूम होते हैं। उनमें दुर्गा की भी पूजा बहुत होती है। नेपाल की बनी विष्णु, शिव, पार्वती और तान्त्रिक मत के बौद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियाँ विशेष चमत्कारपूर्ण हैं। नेपाल में प्राचीन समय से ही कपड़े पर सुन्दर चित्र बनाए जाते रहे हैं। मध्य एशिया तक से नेपाल के बने चित्रपट मिले हैं। इन चित्रपटों पर भारतीय चित्रकला का प्रभाव झलकता है।

चीनी तुरकिस्तान—यह प्रदेश एशिया का हृदय कहा जाता है। बहुत प्राचीन काल से ही भारत से इसके निकट के सम्बन्ध रहे हैं। महाभारत में भी इस प्रदेश का वर्णन है। युधिष्ठिर के यज्ञ में यहां के

लोग सुन्दर घोड़े, सोना और समूर लाए थे। प्राचीन बौद्ध और संस्कृत ग्रन्थों में इस प्रदेश का नाम कम्बोज था। कम्बोज भारतवर्ष के अन्दर ही माना जाता था।

चीन और पश्चिम को जोड़ने वाले दो मार्ग तुर्किस्तान से गुजरते हैं। ये 'रेशम के मार्ग' कहलाते हैं जहां से होकर चीन और भारत का हजारों वर्षों से आवागमन रहा है। तुर्किस्तान के प्राचीन नगरों के अवशेष मिले हैं, जिनसे भारत और चीन के सम्बन्धों और सांस्कृतिक आदान-प्रदान पर काफी प्रकाश पड़ता है। इन प्राचीन नगरों में तुन्-हुआङ् मुख्य है। यहां पर अजन्ता के ढंग पर पहाड़ में काटी हुई सैंकड़ों गुफाएं मिली हैं। इनमें विद्वानों को कला के नमूने और सस्कृत, चीनी आदि भाषाओं के ग्रन्थ बहुत संख्या में मिले हैं। यहां की सहस्र बुद्ध गुफाओं से रेशम पर बने अद्भुत चित्रपट मिले हैं। इन ग्रन्थों और चित्रों पर भारतीय संस्कृति की अमिट छाप है।

यह सांस्कृतिक प्रसार भारत के सब पड़ोसी देशों में हुआ है। पश्चिम में ईरान, अरब और योरोप के देश भी बहुत बातों में भारत के ऋणी हैं। बहुत प्राचीन समय से अरब व्यापारी भारतीय सामान को विदेशों में बेचते रहे हैं। ८ वीं शताब्दी में अरबों ने भारत में बहुत रुचि ली। बहुत से भारतीय पण्डित बगदाद में रहे। महाभारत चाणक्यनीति और पञ्चतन्त्र तथा ज्योतिष के ग्रन्थ अरबी में अनूदित हुए। गणित में अरबों ने भारतीयों से अंक विद्या सीखी। अरब आज भी १ से ९ और ० तक अपने अंकों को 'हिन्दसा' कहते हैं। अरबों ने ही इनका प्रचार योरोप में किया। भारतीय चिकित्सक भी अरब देशों में गए और भारतीय आयुर्वेद का भी वहाँ प्रचार हुआ। चरक, सुश्रुत, पशुचिकित्सा, स्त्रीरोग, सर्पविद्या आदि विषयों की पुस्तकें

अरबी में अनूदित हुई। भारतीय संगीत के ग्रन्थों का भी अरबी में अनुवाद किया गया।

अरब एक सुसंस्कृत जाति थी और उन्होंने भारतवर्ष से काफी ग्रहण किया। उन्होंने नए शिष्य के अदम्य उत्साह से संसार में अपने ज्ञान का प्रसार किया जिसके साथ ही भारतीय साहित्य और संस्कृति का भी प्रचार हुआ। विशेषतः पंचतंत्र का अरबी अनुवाद यूरुप में बहुत लोकप्रिय हुआ।

अध्याय ९

गुप्त काल—
समाज, साहित्य एवं विज्ञान

चौथी शताब्दि के आरम्भ में गुप्त राजवंश का प्रादुर्भाव हुआ। चौथी और पांचवी शताब्दी को जब गुप्त वंश अपने चरम उत्कर्ष पर था भारतीय इतिहास का स्वर्ण युग कहते हैं। गुप्त काल की संस्कृति और सभ्यता देश में चिरकाल के लिए अपने आदर्श प्रतिष्ठित कर गई। हिन्दू समाज का जो रूप इस समय स्थिर हुआ वह बहुत काल तक बना रहा।

इस युग की विशेषताएँ—गुप्तकाल अपने वैभव और सांस्कृतिक उत्थान के कारण भारतीय इतिहास का महान् युग कहा जाता है। इस युग में साहित्य, धर्म, दर्शन, चित्र, स्थापत्य (आर्कीटेक्चर), नृत्य, संगीत-कला आदि हरेक क्षेत्र में बहुत बड़ा कार्य हुआ।

प्राचीन वैदिक काल की धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओं को अपना कर उन्हें पुराण, स्मृति और नये साहित्य के रूप में ढाला गया।

वैष्णव और शैव प्रवृत्तियों का विशेष रूपसे देशव्यापी उत्थान हुआ।

गृहस्थ आश्रम की श्रेष्ठता और इस लोक के जीवन की उन्नति पर विशेष बल दिया गया। जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम,

मोक्ष) को प्रमुख स्थान देकर जीवन में भोग और मोक्ष के समन्वय का नया आदर्श उपस्थित किया गया।

यह युग धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय का था। वैदिक, बौद्ध और जैन परम्पराओं, कथाओं और विचारधाराओं की एक साथ उन्नति और समन्वय इस युग में मिलता है।

छोटे छोटे राज्य समाप्त हुए और देशव्यापी साम्राज्य की स्थापना हुई।

देश के दूर दूर के भाग व्यापार और राजनैतिक सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे के निकट आ गए।

चित्र, शिल्प, स्थापत्य, संगीत, नृत्य, नाट्य (ड्रामा) आदि भारतीय कला के सब अंग और परम्पराएं उन्नत हुईं। उनका देश-व्यापी प्रचार हुआ। ललित कला के रूप में उनका शास्त्रीय मान और आदर्श स्थिर हुआ और एक राष्ट्रीय कला सम्पूर्ण देश के लिए बन गई। जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों और नेपाल, तिब्बत, अफगानिस्तान, चीन आदि देशों तक उसका प्रचार हुआ।

देवताओं के मन्दिर बनाए जाने लगे और मूर्तिपूजा के रूप में एक नई सांस्कृतिक चेतना जनता में फैली।

संस्कृत भाषा और महाकाव्यों की जैसी उन्नति इस युग में हुई वैसी और कभी नहीं हुई।

भारतीय संस्कृति, धर्म, भाषा और कला का विदेशों में प्रचार हुआ। उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान मिला। मध्य एशिया से लेकर लङ्का तक और हिन्द एशिया के द्वीपों से लेकर कोरिया जापान तक भारतीय संस्कृति ने अन्य देशों को प्रभावित किया। बृहत्तर भारत की नींव पड़ी और उसका खूब विस्तार हुआ।

सामाजिक जीवन—सामाजिक जीवन सुख से परिपूर्ण था। जनता ने चारों ओर शान्ति का अनुभव किया। गृहस्थ धर्म को नया सम्मान प्राप्त हुआ। बौद्धों के निर्वाण धर्म के मुकाबले में भागवत धर्म ने बड़े जोर से जनता में इस बात का प्रचार किया कि गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में बड़ा है, वह और सब की नींव है। दूसरे आश्रमों का हित गृहस्थ आश्रम से ही हो सकता है। इस जीवन की उन्नति करने से पृथ्वी पर ही स्वर्ग का राज्य स्थापित हो सकता है। कालिदास ने लिखा—'राज्य और जनता की समृद्धि इन्द्र का स्वर्ग है।' देश में सम्पन्न व्यापारीवर्ग का उदय हुआ जो न केवल अपने देश में बल्कि समुद्रपार के देशों साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अगुवा बन गए।

चातुर्वर्ण्यव्यवस्था—समाज में चार वर्ण थे। वर्णाश्रम की रक्षा और स्थापना, यह राज्य और समाज का नवा दृष्टिकोण था। चारों वर्णों में ब्राह्मणों का सम्मान और स्थान ऊँचा था पर अधिकांश रूप से उनकी विद्या और चरित्र के कारण ऐसा था। क्षत्रिय राजा होने के कारण और अपने वीरत्व से आदर पाते थे। इस समय समाज का मापदंड चरित्र था। ३०० वर्षों के बाद शक, कुषाण आदि विदेशियों के हाथों से राजसत्ता पुनः इस देश के लोगों के अपने अधिकार में आ गई थी। लोगों को चरित्र के गुणों की आवश्यकता का अनुभव हुआ जिससे वे अपनी नई जिम्मेदारी को संभाल सकें। विनय या अनुशासन अर्थात् नियमित संतुलित जीवन सब से बड़ा गुण माना जाने लगा। लोगों के नाम भी गुणों के आधार पर रक्खे जाने लगे, जैसे सत्यमित्र, धृतिशर्मा आदि।

नगर—अधिकांश जनसंख्या गाँव में रहती थी पर इस समय एक से एक विशाल नगर भी थे। कुछ नगर तो अपनी विशालता,

समृद्धि और सुव्यवस्था में संसार के किसी भी नगर से कम न थे। पाटलिपुत्र, काशी, मथुरा, पुरुषपुर, कपिशा, तक्षशिला, उज्जयिनी, कांची, ताम्रलिप्ति, पुंड्रनगर इस समय के महान नगर थे।

नगर जीवन—नागरिक स्वतंत्र और सुखी जीवन बिताते थे। विद्वान, कवि, विचारक और कलाकारों से नगर भर गये थे। जनता में चारों ओर उनका आदर और मान था। धनी, सार्थवाह और श्रैष्ठी लोग राजाओं से भी अधिक सुख और विलास करते थे।

नागरिक—इस काल का नागरिक बहुत सुसंस्कृत और कला संपन्न था। नागरिक का सबसे बड़ा गुण उसका सामाजिक जीवन था। वह साहित्य और संस्कृति की विविध प्रवृत्तियों में भाग लेता था। उनमें आनन्द उठाने की योग्यता रखता था। वह वीर था। वह सुखी जीवन बिताने का अभ्यस्त था परन्तु विलासलोलुप नहीं था। नागरिकों में ललित कलाओं का बहुत आदर था। संगीत, नाट्य, नृत्य, वाद्य और चित्रकला का स्वयं अभ्यास करना स्त्री और पुरुष अपने लिये आवश्यक समझते थे। किसी भी युग में भारतीय नागरिक का जीवन ऐसा सुरुचिसम्पन्न, सुसंस्कृत, कलापरायण, गुण सम्पन्न, धनधान्य से पूर्ण और सुखी नहीं रहा, जितना गुप्त युग में हो गया था। उपवनों और उद्यानों में मित्रों की गोष्ठियां और तरह तरह के खेल जीवन के सुखदायी अंग थे। मित्रों की गोष्ठियों (अंग्रेजी क्लब्स) में काव्य, साहित्य और तरह तरह की कलामय प्रवृतियों से सुख का अनुभव करते थे। साथ ही लोग व्यायाम, युद्ध-विद्या और अस्त्रशस्त्रों की निपुणता में भी रुचि लेते थे। संन्यासी, भिक्षु और दार्शनिक तक भी सामाजिक जीवन की हलचलों से अलग न थे। बौद्ध लोग बोधिसत्व आदर्श का प्रचार कर रहे थे। वे कहते थे कि "जब तक व्यक्ति मानव का हित कर सके उसे उसी में अपना

जीवन अर्पित करना चाहिए, निर्वाण की चाहना न करनी चाहिए। यही बोधिसत्वों के जीवन का आदर्श है।"

गृहस्थ धर्म—सब आश्रमों में गृहस्थ सबसे उत्तम माना जाता था। गृहस्थ लोग एक ओर यज्ञ-याग करते, दूसरी ओर मन्दिर निर्माण और मूर्तिपूजा के सिलसिले में तथा अनेक प्रकार के उत्सव करते थे। रानियाँ तक देवमंडप में नृत्य करके देवता की आराधना करने में अपना सौभाग्य समझती थीं।

दान और त्याग को बहुत महत्व दिया गया। विदेशी व्यापार से जो अनन्त स्वर्ण और धन देश में एकत्र हो रहा था उससे नागरिकों के घर भर गये। इसके लिए यह कल्पना थी कि यह धन कुबेर के खजाने से पृथ्वी पर बरस पड़ा है और उसका दान करना ही उचित है। इस युग के धर्मग्रन्थों में अनेक दानों का विधान किया गया।

अतिथि सत्कार अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य था। यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि अपने द्वार पर आये को भोजन, पीने की वस्तु और स्थान कोई न दे। फाहियान ने भारतीयों की इस विशेषता को बड़ी प्रशंसा की है। प्रत्येक अच्छे गृहस्थ के यहां अतिथि के लिए स्थान रहता था। रास्तों और गांवों में पान्थशालाएँ, अतिथिशालाएं होती थीं।

शिष्टाचार—सामाजिक जीवन में शिष्टाचार का बहुत स्थान था। शिष्टाचार के दो भेद थे—राजकीय (दरबारी) और सामाजिक। सुन्दर कथन, संयत वचन और मधुर भाषण को बहुत महत्व दिया जाता था।

स्त्रीवर्ग—स्त्रियों की दशा इस काल में जितनी ऊँची थी वैसी कम रही है। इस युग के आदर्श को कालिदास ने यों लिखा है, 'स्त्री अपने घर में पति की गृहिणी है। वह अपने पति के कार्यों में सलाह देने

वाली सचिव है। वह उसकी अंतरंग मित्र है। ललित कलाओं के सीखने में स्त्री अपने पति की शिष्या है' (गृहिणीसचिवः मिथः सखा प्रियशिष्या ललितेकलाविधौ)।

स्त्रियों की वेशभूषा—उनके वेश, उनके रेशमी और सूती वस्त्र अनेक प्रकार के होते थे। उत्तरीय, साड़ी, या चोली (कूर्पासक) और दामन (चंडातक) का रिवाज था। रेशमी वस्त्रों को अंशुक कहते थे। चीन से आने वाला रेशमी माल चीनांशुक कहलाता था। दक्षिणी भारत से मोतियों का मुक्तांशुक (मोतियों से गुथा हुआ वस्त्र) स्त्रियों के लिए बन कर आता था। स्त्रियाँ बड़ी सुरुचि से अपना केश शृङ्गार करती थीं। वे किसी चूर्ण या मसाले से अपने केशों में घूंघर डालती थीं। ऐसे केश अलकावलि कहलाते थे। अलकावलि केश गुप्त युग की खास चीज है। स्त्रियाँ ही नहीं, पुरुषों ने भी उन्हें अपनाया। शृंगार और सजावट करने वाली स्त्रियों को प्रसाधिका कहते थे। उनकी बड़ी मांग रहती थी। स्त्रियों में उद्यान-क्रीड़ाओं और जल-क्रीड़ाओं का बहुत रिवाज था।

कलाएँ—उस काल में कला का मानव जीवन में बहुत महत्व था। चौसठ कलाएँ कही गयी हैं। ये कलाएं सुकुमार जीवन से सम्बन्धित थीं। प्रधानतया उनके विषय घर-गृहस्थी की सजावट, शरीर का शृङ्गार, मनोविनोद, सुख-विलास इत्यादि होते थे।

चिकित्सागृह—चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि राजा और धनी लोग चिकित्सागृह बनवाते थे जिनमें रोगियों को मुफ्त दवा दी जाती थी। फ़ाह्यान पाटलिपुत्र में बीमार पड़ गया। एक ऐसे ही धर्मार्थ चिकित्सागृह में वह भर्ती होकर स्वस्थ हुआ। उसने इन चिकित्सागृहों की बड़ी प्रशंसा की है।

न्याय और दण्ड—फ़ाह्यान भारतीयों की शान्तिप्रियता की बड़ी

प्रशंसा करता है। उसे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि किसी को कहीं भी आने-जाने में रोक नहीं थी। लोग सत्यभाषी व न्यायप्रिय थे। चोरी डकैती नहीं होती थी। अपराध बहुत कम होते थे। न्याय-व्यवस्था सुव्यवस्थित थी, पर दण्ड देने की आवश्यकता कम पड़ती थी। राज्य में मृत्यु-दण्ड नहीं दिया जाता था।

साहित्य

गुप्त युग में साहित्यिक क्षेत्र में बहुत रचनात्मक कार्य हुआ। गुप्त सम्राट वैष्णव होने के कारण सब धर्मों के प्रति अत्यन्त सहिष्णु थे। उस परिस्थिति में ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन सभी के धार्मिक साहित्य की विशाल परिमाण में रचना हुई।

इस समय अनेक नए दर्शन ग्रन्थ और उनके भाष्य लिखे गए। व्याकरण में चान्द्रव्याकरण और अष्टाध्यायी पर काशिका वृत्ति लिखी गई। अमरसिंह कृत अमरकोष और बौद्ध कोष महाव्युत्पत्ति का भी इसी समय लेखन हुआ। कथा साहित्य में विष्णु शर्मा कृत पंचतन्त्र इस काल की अद्भुत रचना है। पंचतन्त्र में पशुपक्षियों की कहानियों द्वारा राजनीति, लोकव्यवहार, शत्रु-मित्र-भेद आदि विभिन्न विषयों की ऐसी शिक्षा दी गई है कि संसार में उसकी जोड़ का दूसरा ग्रन्थ नहीं है। पंचतंत्र का पहला अनुवाद पहलवी भाषा में छठी शती में हुआ। उसके बाद सीरिया, अरबी, स्पेनिश, लैटिन, फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी आदि संसार की सभी भाषाओं में उसका अनुवाद हुआ।

नीति-ग्रंथों में शुक्रनीति और कामन्दकीय नीति इसी समय लिखी गई। स्मृतियों में नारदस्मृति मुख्य है। इस समय का हिन्दू धर्म वस्तुतः पुराणों का धर्म था। वही भारत का राष्ट्रीय धर्म बन गया। प्रायः सभी पुराण अधिकांश रूप में इसी काल में लिखे गए। महाभारत का भी एक संस्करण गुप्त युग में किया गया। त्रिदेव (ब्रह्मा–विष्णु–महेश)

को आधार मानकर भक्तिपरक साहित्य की रचना इसी युग की देन है।

प्रमुख साहित्यकार

कालिदास—कालिदास सम्राट् विक्रमादित्य के नवरत्नों में थे। कालिदास के प्राप्त ग्रन्थ—शकुन्तला, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र, ये तीन नाटक हैं। रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत और ऋतुसंहार काव्य हैं। भारतीय साहित्य में कालिदास का स्थान ऐसा है, जैसे अंग्रेजी में शेक्सपीयर। भारतीय साहित्यिक चेतना का सुन्दरतम रूप कालिदास के साहित्य में प्राप्त होता है। कालिदास को 'कविकुलगुरु' कहा जाता है।

शकुन्तला में पौरव राजा दुष्यन्त और कण्वऋषि की पालिता कन्या शकुन्तला के प्रेम की कथा है। यह कथा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रसिद्ध थी। पर कालिदास ने इस कथा को नवीन प्राण और सौंदर्य से भर दिया है। विक्रमोर्वशी में चन्द्रवंश के राजा पुरूरवा और स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी की प्रेम कथा है। यह कथा भी वैदिक काल से प्रसिद्ध थी। कालिदास ने मृत्युलोक के पुरुषश्रेष्ठ पुरूरवा और अमरत्व प्राप्त अन्यतम सुन्दरी उर्वशी के प्रेम, मिलन, विछोह और पुनर्मिलन की यह कथा अनूठे ढंग से कही है। मालविकाग्निमित्र एक ऐतिहासिक नाटक है। इसमें विदिशा के राजा अग्निमित्र और विदर्भ की राजकुमारी मालविका के प्रेम और मिलन की कथा है। इस नाटक की बड़ी विशेषता सांस्कृतिक चित्रणों में है, जैसे अशोकदोहद, वसन्तोत्सव, अभिनय और नाट्य, संगीत, नृत्य, राजकीय शिष्टाचार, अन्तःपुर के आचार आदि के वर्णन।

रघुवंश में सूर्यवंश के महान् राजा दिलीप, रघु, अज और राम के चरित्र का वर्णन है। कालिदास ने इनके रूप में नूतन चरित और

व्यक्तित्व के आदर्शों का निर्माण किया है, जो आज भी अत्यन्त प्रभावशाली हैं। कुमारसंभव में तारक असुर द्वारा देवों का उत्पीड़न, शिव की समाधि, मदन-दहन, पार्वतीतपश्चर्या, शिवपार्वतीविवाह, कुमार कार्त्तिकेय का जन्म और तारकासुर वध कथा के मुख्य अंग हैं। मेघदूत कालिदास की मुक्तक रचना है। इसमें अपनी प्रियतमा से दूर गया हुआ विरही यक्ष मेघ द्वारा उसके पास अपना सन्देश भेजता है। यह कालिदास के कविमानस की सर्वश्रेष्ठ कल्पना है। ऋतुसंहार में भारतीय छः ऋतुओं में समय समय पर प्रकृति का जैसा शोभनरूप होता है, उसका वर्णन है।

सुबन्धु—इनका वासवदत्ता नामक गद्यकाव्य है। श्लेषमयी कठिन शैली इसकी विशेषता है। इनका समय ५वीं शती है।

विशाखदत्त—सम्राट् चन्द्रगुप्त के समकालीन थे। इनका लिखा नाटक मुद्राराक्षस संस्कृत साहित्य का अनूठा ग्रन्थ है। इसमें मौर्य-वंश के संस्थापक आचार्य चाणक्य की अद्भुत मेधा का परिचय मिलता है।

शूद्रक—इनका समय ५वीं शती है। इनके नाटक मृच्छकटिक में गुप्तयुग के सांस्कृतिक, सामाजिक और कलात्मक जीवन की सटीक झाँकी मिलती है।

भारतीय हिन्दूदर्शन में कई ग्रन्थ बने। जिनमें पतञ्जलि के योग-सूत्र पर भाष्य और सांख्यकारिका मुख्य हैं। बौद्ध दार्शनिकों में इस समय वसुबन्धु और दिङ्नाग प्रधान हैं। वसुबन्धु का अभि-धर्मकोश बौद्धदर्शन का उत्तम ग्रन्थ है। दिङ्नाग बौद्ध न्याय-दर्शन के जन्मदाता थे।

उत्तर गुप्तकाल में कुछ उत्तम लेखक हुए, जिनमें दण्डी, बाण और माघ मुख्य हैं। दण्डी का दशकुमारचरित, काव्यादर्श और

अवन्तिसुन्दरी कथा—तीन ग्रन्थ हैं। बाण के हर्षचरित और कादम्बरी, दो सुन्दर गद्यकाव्य हैं। उस समय के राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन का जितना स्पष्ट रूप बाण में मिलता है, अन्यत्र नहीं। बाण संस्कृत गद्य के अनुपम लेखक हैं। माघ का काव्य शिशुपालवध है।

विज्ञान

गुप्तकाल में विज्ञान की सर्वांगीण उन्नति हुई थी। भारतीय वैज्ञानिकों ने गणितशास्त्र, ज्योतिष, भूगोल और धातुशास्त्र, रत्नशास्त्र, स्थापत्य इत्यादि बहुत विषयों पर कार्य किया है।

आर्यभट—यह गुप्तकाल में बहुत बड़े गणितज्ञ हुए हैं। इन्होंने यह सिद्ध किया कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर लट्टू की तरह घूमती है। इनका ग्रन्थ आर्यभटीय पाटलिपुत्र में लिखा गया था। इन्हीं की परम्परा में वराहमिहिर (६ठी शती) और ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) विद्वान् गणितज्ञ हुए।

वराहमिहिर—इनके बृहत्संहिता, पञ्चसिद्धान्तिका और बृहज्जातक तीन ग्रन्थ मिले हैं। बृहत्संहिता, गणित, ज्योतिष, भूगोल इत्यादि विषयों का श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

ब्रह्मगुप्त—इनका ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त ग्रन्थ मिलता है।

धातुशास्त्र और ढलाई में इस काल के भारतीय बड़े प्रवीण थे। दिल्ली के पास मेहरौली में चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय का एक लौह-स्तम्भ है। १५०० वर्ष से खुले में खड़े होते हुए भी इसमें जंग नहीं लगा है। इतना बड़ा स्तम्भ संसार में अन्यत्र उन्नीसवीं शताब्दी से पहले कहीं भी ढल नहीं सकता था। इस काल में कांसे और तांबे

की ढलाई का भी अद्भुत कार्य हुआ। बिहार के सुलतानगंज से मिली बुद्ध की विशाल प्रतिमा भारतीय कला और धातु-विज्ञान का अनुपम उदाहरण है।

भूगोल—कम्बोज से लेकर यवद्वीप (जावा) तक भारतवर्ष और समुद्री देशों का भौगोलिक पर्यवेक्षण हुआ। इस भौगोलिक ज्ञान का पुराणों के भुवनकोष और बृहत्संहिता में अच्छा संग्रह मिलता है।

नौकावहन—भारतीय नाविक संसार के समुद्रों में दूर दूर तक जाते थे। उन्होंने नौका तथा जहाज (पोत) निर्माण में अद्भुत उन्नति की थी। इस काल में भारतवर्ष में कई बड़े बड़े बन्दरगाह भी थे, जिनमें ताम्रलिप्ति, भृगुकच्छ प्रधान थे। इसी समय के एक भारतीय महानाविक बुद्धगुप्त का संस्कृत लेख मलाया में मिला है। युद्ध के लिये जल-सेना के भी उल्लेख प्राप्त हुए हैं। समुद्रगुप्त के प्रयाग के लेख में कर देने वालों में लंका और द्वीपान्तर के राजाओं का उल्लेख है। कालिदास ने भी बंग देश की जल-सेना का उल्लेख किया है।

स्थापत्य (अं० आर्किटेक्चर)—इस युग में स्थापत्य और भवन-निर्माण में अद्भुत उन्नति हुई। पहले पहाड़ों में काटकर बड़े विहार तथा मन्दिर बनाए जाते थे। गुप्तों ने इस शैली के साथ साथ ईंटों और पत्थर के विशाल भवन बनाना शुरू किया। विशाल मन्दिर, मंडप, महल, विहार, विश्वविद्यालय इत्यादि बनाए गए। सिंचाई के लिये सेतु (अं० एक्वेडक्ट) भी बनाए जाते थे। गिरनार के पास स्कन्दगुप्त के समय में सुदर्शन नामक झील फिर से बनाई गई। इस युग में शिल्प और स्थापत्य के शास्त्रीय ग्रन्थ भी बनने शुरू हुए।

यह प्रवृत्ति भारत को छोड़कर अन्यत्र प्राचीन समय में कहीं नहीं मिलती है कि भवन के साथ साथ शिल्पशास्त्र भी बने हों। मानसार इस काल में बना शिल्पशास्त्र का अत्युत्तम ग्रन्थ है।

आयुर्वेद—इस युग में शरीर शास्त्र और आयुर्वेद की बहुत उन्नति हुई थी। उसके सबसे बड़े विद्वान् वाग्भट्ट थे। इनके दो ग्रन्थ अष्टाङ्गसंग्रह और अष्टाङ्गहृदय हैं। प्राचीन चरक और सुश्रुत की संहिताओं को संक्षेप में और दुहरा कर नए प्रयोगों (नुस्खे) के साथ इनकी रचना हुई थी। इसी युग का एक और ग्रन्थ काश्यप-संहिता नेपाल से मिला है। इसमें कौमारभृत्य या बच्चों और स्त्रियों के रोगों की चिकित्सा का अच्छा विवरण है।

अध्याय १०

राजपूत युग

सातवीं शती के मध्य भाग में हर्ष की मृत्यु होने पर उत्तर भारत में कोई एकछत्र प्रतापी साम्राज्य न रह गया था। बचे खुचे तन्तुओं को संगठित होने में एक शती का समय लग गया। आठवीं शती के मध्य भाग में फिर नयी शक्तियों का समुत्थान हुआ जो कई बातों में विलक्षण थीं। शक-कुषाण काल से लेकर मध्य एशिया के बर्बर हूणों तक जो कितनी ही विदेशी जातियाँ यहाँ आकर बस गयी थीं, उन्हें भारतीय समाजव्यवस्था में सम्मानित स्थान देना आवश्यक था, क्योंकि इनमें से अधिकांश राजवंशों से संबंधित रह चुकी थीं। इसके लिये पुष्कर में वसिष्ठ के यज्ञ के अग्निकुंड से उत्पन्न हुए क्षत्रियों के छत्तीस कुलों की अनुश्रुति का जन्म हुआ। सूर्यवंश और चन्द्रवंश की पुरानी परम्परा के क्षत्रिय राजकुलों के साथ नये राजवंश भी क्षत्रिय कहलाये। सामाजिक स्तर पर एक महत्वपूर्ण समस्या इस प्रकार हल की गयी। राजनीति के क्षेत्र में सामन्तशाही का ठाठ इन आगन्तुक आक्रमणकारी राजाओं की नयी देन थी। उसे भी नए प्रकार के राजनीतिक संगठन में ढालना आवश्यक था। वही अगली शती के शक्तिशाली राज्यों और उनके शासक राजाओं के रूप में हुआ। उत्तर से लेकर दक्षिण तक सारे देश में सामन्ती पद्धति पर कई राजा राज्य करने लगे। इस समय को भारतीय इतिहास का राजपूत युग कहा जाता है। इस युग का पूर्वार्द्ध आठवीं से दसवीं शती तक है और उत्तरार्द्ध दसवीं के अन्त से तेरहवीं शती तक जाता है।

उत्तर भारत में कन्नौज को राजधानी बनाकर गुर्जर प्रतिहारों का प्रबल साम्राज्य स्थापित हुआ। बिहार तथा बंगाल में पालवंश के राजाओं ने एक बृहद् राज्य की स्थापना की। दक्षिण भारत में नर्मदा से कृष्णा नदी तक सशक्त राष्ट्रकूटों का राज्य था। दसवीं शती में उन्हें उखाड़ कर चालुक्यों ने सारे पश्चिमी भारत में अपनी राज्यसत्ता का विस्तार किया। सिंध में अरब मुसलमानों ने प्रवेश करके मुलतान तक अपना राज्य फैला लिया था। सुदूर दक्षिण में पहले तो पल्लव राजा आठवीं शती तक चलते रहे, फिर नये युग की शक्ति लेकर प्रतापी चोल राजाओं ने तमिल देश से आन्ध्र तक एक बड़े साम्राज्य की नींव डाली। जिसका बहुत अधिक विस्तार दसवीं ग्यारहवीं शती में हुआ।

गुर्जर प्रतिहार और राजपूत बहुत ही प्रबल राज्य थे। देश के अभाग्यवश इन दोनों की कभी नहीं पटी और सदैव आपस में टकराते रहे। इनमें प्रतिहारों का दृष्टिकोण उत्तर भारत में एक शक्तिशाली राज्य को कायम कर रखना था। उनकी सेना भी बहुत बड़ी थी। पर उनके विरोध में राष्ट्रकूट राजा प्रतिहारों के विरुद्ध अरबों को अपना मित्र मानते थे और उन्हें व्यापार संबंधी सब सुविधाएं प्रदान करते थे। प्रतिहारों के पश्चिम के अरब, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पूर्व के पाल सभी शक्तियाँ गुर्जर प्रतिहारों से शत्रुता मानती थीं। पर प्रतिहारों ने अपने अदम्य पराक्रम से सब पर विजय प्राप्त की। उनके सम्राट मिहिरभोज ने राजस्थान से लेकर बिहार तक और पंजाब से लेकर नर्मदा तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया। सिंध के अरबों को तो प्रतिहारों ने पश्चिमी राजस्थान के चौहानों के साथ मिल कर नवीं शती में बिल्कुल खत्म कर डाला।

११वीं शताब्दी के आरंभ में गजनी के तुर्कों की नयी शक्ति का

उदय हुआ। १००० ई० तक पश्चिमी अफगानिस्तान और मध्य एशिया तक इस्लाम का प्रवेश हो गया था। इस्लाम की आंधी ईरान के सासानी साम्राज्य को नष्ट करके भारत की ओर बढ़ रही थी। इस समय हिंदू शाहियों का राज्य काबुल में था। ये लोग तुर्क थे जो पहले आ चुके थे और अन्य विदेशियों की भांति अब हिंदू हो चुके थे। शाही राजा राज्यपाल सुबुक्तगीन से हार गया। महमूद गजनी के मुकाबले में शाहियों ने आनंदपाल और त्रिलोचनपाल के नेतृत्व में प्राणपण से भारत के सिंहद्वार की रक्षा की, पर अन्त में महमूद के हमलों के सामने शाही राजाओं का रक्षादुर्ग टूट गया और महमूद भारतवर्ष में आगे बढ़कर हमले करने लगा। पर उसकी मृत्यु के बाद शीघ्र ही भारत के राजनीतिक शरीर में लगे हुए ये घाव भर गये और राजपूत शक्तियों ने भारतभूमि से मुसलमानों को खदेड़ दिया। इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक (११,१२वीं शती) देश का राजनीतिक संगठन शांतिपूर्वक चलता रहा। इस उत्तरार्द्ध युग में प्रतिहार राज्य तो समाप्त हो चुका था। उसके स्थान पर गहड़वाल राजवंश कन्नौज से काशी तक के भूभाग में जमा हुआ था। १२वीं शती तक जो मुसलमानी ताकत भारत के पश्चिमी नाके पर टक्कर मार रही थी उसे रोकने का श्रेय गहडवालों और चौहानों को ही है। चौहानों में बीसलदेव सबसे शक्तिशाली था जिसने बाहर से आनेवाली ताकतों के खतरे को पूरी तरह समझ लिया। उसने जन्मभर राजपूतों को संगठित करने का प्रयत्न किया और कई बार मुसलमानों को हराया। अपने एक लेख में उसने लिखा है—'मैंने इस आर्यावर्त को म्लेच्छों से शुद्ध कर दिया है मेरे आगे आने वाले राजा इस काम को और भी पूरा करेंगे।' गहड़वाल वंशी गोविन्द चन्द्र देव के समय में एक बार फिर कन्नौज का राज्य बनारस से पंजाब-राजस्थान तक फैल गया था। राजस्थान में सांभर (शाकम्भर) का

चौहान राजवंश उतना ही प्रबल था। मध्यभारत में चन्देल और मालवा में परमारों की बड़ी शक्तियां थीं। पूरवी बिहार और बंगाल में पहले पाल फिर शैवधर्मावलंबी सेन थे। राष्ट्रकूटों का विशाल राज्य ११वीं शती में सोलंकी, आभीर और चालुक्यों में बंट गया था। इनमें सौराष्ट्र-गुजरात के सोलंकी और मान्यखेट के चालुक्यराज्य प्रबल थे। सुदूर दक्षिण में चोलों का बलशाली राज्य था। जिस समय उत्तर में महमूद के हमले हो रहे थे उसी समय सम्राट् राजराज और राजेन्द्र चोल की सेनाएं एक ओर गंगा के काँठे तक और दूसरी ओर उनकी जलसेना लंका, बरमा, और पूरबी द्वीप समूह को विजय कर रही थी। उड़ीसा के गंग, और मैसूर-कर्नाटक के होयसल भी शक्तिशाली राजवंश थे। कश्मीर में कर्कोटक राजा शान्तिपूर्वक राज्य कर रहे थे। इन सबके दृढ़ शासन में न केवल देश को शान्ति और सुव्यवस्था प्राप्त हुई बल्कि कला, साहित्य और संस्कृति को भी अभूतपूर्व संरक्षण मिला।

संस्कृति

राजा लोग कवियों और विद्वानों को आश्रय देते थे। उनके आश्रय में बड़े बड़े विद्यालय और शिक्षा संस्थाएं चलती थीं। इस युगमें गुणी का जितना आदर और सम्मान होता था उसके अन्यत्र उदाहरण बहुत कम हैं। मालवा के राजा भोज ने धारा नगरी में राजधानी बनाकर वहां सरस्वती पाठशाला स्थापित की जिसके विद्वानों ने सैकड़ों ग्रन्थ बनाए। सरस्वतीकंठाभरण, समरांगणसूत्रधार, शृंगारप्रकाश आदि भोज के संरक्षण में बने हुए महान ग्रंथ अभी तक बच गये हैं। भोज का नाम विद्वानों को दान और संरक्षण देने में सारे देश में कहानी की तरह फैल गया।

राजपूत युग व्यक्ति के शारीरिक विकास का युग था। हरेक व्यक्ति अपनी शक्ति और गुणों को भरसक माँजकर दूसरे से बढ़ जाना चाहता था। हजार योद्धाओं से अकेले भिड़ जाने वाले वीरों को सहस्रभटसामन्त कहते थे जिनकी हर एक राजदरबार में बड़ी माँग रहती थी। जुझार योद्धा तरह तरह के हथियारों का अभ्यास करते थे। रणभूमि में हँसते हुए प्राण दे देना उनके लिए बाएँ हाथ का खेल था। वे लोग जैसे वीर थे वैसे ही स्वामिभक्त और अपनी बात के धनी भी होते थे। वैसे ही पंडित लोग भी शास्त्रार्थ में दिग्विजय करने निकलते थे। ऐसे दिग्विजयी विद्वानों को राजाओं के यहाँ बहुत आदर मिलता था। राजाओं को अपनी सभा में विद्वान् रखने का शौक था। इस समय की भाषा और विचार दोनों को जानबूझ कर क्लिष्ट बनाया गया। कविता की शैली कृत्रिम हो गई। वह ऐसी भाषा में लिखी जाने लगी जिसका अर्थ जल्दी समझ में न आए। पंडित ऐसी टेढ़ी और उलझी हुई भाषा में शास्त्रार्थ करते थे कि विपक्षी को अर्थ का पता न चले। जिस तर्कशैली का ऐसे विकास हुआ उसे नव्य न्याय कहते हैं।

चरित्रगत विशेषताएं—राजपूत जैसे वीर थे वैसे ही अपनी बात के धनी होते थे। स्वयं सच्चे थे और दूसरों को भी ऐसा ही समझते थे। उन्हें विश्वास न होता था कि कोई वीर पुरुष अपनी बात से फिर जायगा। राजनीति में उनकी एक ही नीति थी अर्थात् भले के साथ तो भलाई करनी ही, मंद के साथ भी भलाई ही करना। युद्ध से भागे हुए शत्रु पर राजपूत कभी हाथ नहीं उठाते थे। इन प्रवृत्तियों का मुस्लिम शासकों ने बड़ा लाभ उठाया। वे कपट नीति का आश्रय लेने में भी न हिचकते थे। राजपूत के लिये गौ, ब्राह्मण और स्त्री अवध्य थीं। सेना के आगे गायों को लाकर मुसलमान राजपूतों

को युद्ध से रोक देते थे। स्वयं दुर्बल पड़ने पर सन्धि कर लेना और फिर छल से मर्म पर आघात करना, इस युद्धनीति को अपना कर मुसलमानों ने कई बार राजपूतों पर विजय पाई। राजपूत लोगों के जीवन में शृंगार और वीरता का अद्भुत सम्मिलन था। शान्ति के समय वे सुन्दर रनिवासों के भोग विलास में डूब जाते पर युद्ध के समय हंसते हुए प्राणों की बलि दे देते थे। इस नीति में वीरता तो अवश्य थी पर राजनीतिक बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता उतनी न थी। वे प्रायः अपने ही राज्य की फिक्र करते थे। सारे देश की रक्षा उनके सामने समस्या बनकर न आती थी। इसीलिये एक एक करके शक्तिशाली राजा भी विदेशी शक्ति को रोकने में असफल रहे। राजपूतों ने अपने युद्ध के ढंग में सुधार नहीं किया। वे दुर्ग बनाकर लड़ने के आदी थे। खतरे के समय शत्रु से बचने के लिये अपने आपको किले में बन्द करके बेफिक्र हो जाते थे। पर आगे बढ़कर शत्रु को रोकने और उसे पीछे खदेड़ने पर उनका ध्यान न जाता था। नए नए हथियारों और घुड़सवार सेना के संगठन पर भी उन्होंने समुचित ध्यान नहीं दिया। फिर भी जैसा लेनपूल ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया है कि राजपूतों की वीरता के सामने इंग्लैंड के किंग आर्थर के नाइट्स भी फीके पड़ जाते हैं। तरावड़ी के पहले युद्ध में उन्होंने जो कुशलता दिखाई उसमें पैदल सेना के ही पार्श्वगत धक्के ने मुसल्मानों की घुड़सवार सेना को तोड़ कर रख दिया था और गोरी को भाग कर जान बचाना मुश्किल हो गया था। यदि राजपूत भागते दुश्मन पर वार कर सकते तो वहीं वारा न्यारा हो जाता, किन्तु अपनी वीरोचित उदारतावश उन्होंने वैसा नहीं किया जो आगे महँगा पड़ा।

सामन्ती प्रवृत्ति—राजपूत काल की सबसे बड़ी विशेषता सामन्ती मनोवृत्ति थी। अधिकांश राजा उच्छृंखल शासक होते थे। वे बड़ी

शान शौक़त से रहते थे। राजसी ठाठ का दिखावा शासन के कार्य से भी आगे बढ़ गया था। राजा के अधीन सामन्त, महासामन्त और मांडलिक होते थे। वे राजा के रक्तसंबंधी होते और उसकी कृपा पर निर्भर रहते थे। शान्ति के समय उसके दरबार में शामिल होकर उसकी शान बढ़ाते और लड़ाई के समय अपनी सारी ताकत से रणभूमि में पहुँचकर राजा की ओर से लड़ते थे। इनकी स्वामिभक्ति तो बड़ी सच्ची थी पर इस तरह की सेना में वह संगठन नहीं हो सकता जो किसी राज्य की केंद्रीय सेना में होना चाहिए। राजा के वंश के वीर और कृपापात्र योद्धा राजपूत या रावत कहलाते थे। प्रायः सेनापति ये ही होते थे। ये लोग अपने अभिमान और बाँकेपन की ऐंठ से चूर रहते थे। राजा नौकर-चाकरों व पहरेदारों से घिरे हुए बड़े महलों में रहते थे। चारण, सूत और बन्दीजन उनके यश के गीत गाते रहते थे। उनकी सवारी के लिये तरह तरह के घोड़े, अनगिनत हाथी, और अन्य साधन होते थे। आधीन सामन्त और मांडलिक भी उनका अनुकरण करते थे। रईस व धनी लोग भी वैसा ही ठाठ निभाते थे। राजपूत युग में निजी आनबान तो बहुत थी पर प्रजा का राजा से घनिष्ट सम्बन्ध न बन पाता था।

राजा के मंत्रीगण, सेनानायक, सामन्त और धर्माध्यक्ष आदि भी होते थे। राज्यसत्ता पर कोई नियंत्रण नहीं था। राजा की इच्छा से ही सब कार्य होता था। पर बहुधा राजा क्रूर नहीं होते थे।

वे सुसंस्कृत जीवनपद्धति के अनुयायी थे। महलों में सब प्रकार के सुख की सामग्री रहती थी। खानपान, वेषभूषा, अलंकार, वास्तु, स्थापत्य में राजाओं की रुचि थी। वे लोग कलाकारों का सम्मान करते थे। इस युग के सभी बड़े राज्यों ने हिन्दू मन्दिरों का बहुत बड़े पैमाने पर निर्माण कराया। उनमें अद्भुत कारीगरी का प्रयोग

किया गया। खजुराहो के महान् मन्दिर, चोल राजाओं के मन्दिर एवं सोलंकी राजाओं के गुजरात-काठियावाड़ में जो मन्दिर बने हैं, वे संसार के आश्चर्य माने जाते हैं।

साहित्य

राजपूत राजा विद्वानों और कवियों के आश्रयदाता थे। जीविका की चिंता से मुक्त इन लोगों ने साहित्य के भंडार को खूब भरा। गुप्त-काल की साहित्यिक चेतना सातवीं शताब्दी तक रही। आठवीं शताब्दी से राजपूत युग की साहित्यिक शैली का प्रारंभ होता है।

भवभूति—भवभूति कन्नौज के प्रतिहार राजा यशोवर्मा (८वीं शती) की राज्यसभा में थे। काश्मीर के राजा ललितादित्य अपनी कन्नौज विजय के बाद भवभूति को भी अपने साथ काश्मीर ले गये। भवभूति महान नाटककार हैं। कालिदास को छोड़ कर अन्य कोई इनकी समता नहीं कर सकता। इनके तीन नाटक हैं, मालतीमाधव, उत्तररामचरित, और महावीरचरित। उत्तररामचरित में भवभूति की नाटककला का सर्वश्रेष्ठ रूप मिलता है। करुणरस का जैसा परिपाक उत्तररामचरित में हुआ है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

राजशेखर—राजशेखर कन्नौज के नरेश महेन्द्रपाल (९००) की सभा के रत्न थे। कर्पूरमंजरी, बालरामायण बालभारत आदि इनके अनेक नाटक प्रसिद्ध हैं। काव्यशास्त्र के विषय में काव्यमीमांसा इन की श्रेष्ठ रचना है। इस ग्रन्थ में राजशेखर ने इस बात पर सबसे अधिक बल दिया है कि राजाओं को काव्य और कलाओं की उन्नति के लिये अपने कर्तव्य का किस प्रकार पालन करना चाहिए। राज्य की रक्षा करना जिस प्रकार आवश्यक है वैसे ही काव्य-संस्कृति की रक्षा भी राजा का धर्म है।

श्रीहर्ष—श्रीहर्ष कन्नौज नरेश जयचन्द्र (१२वीं शती) की सभा में थे। इन्होंने नैषधीय चरित महाकाव्य लिखा है। अपनी अलंकार-पूर्ण और श्लेषमयी शैली के लिये ये प्रसिद्ध हैं। ये बड़े नैयायिक और दार्शनिक भी थे। इनका खंडनखंडखाद्य दर्शन का ग्रन्थ सब प्रकार के वेदान्त विरोधी तर्कों को काटने के लिये लिखा गया था।

इस युग में ऐतिहासिक चरित-काव्य लिखने की एक नयी शैली साहित्य में चल पड़ी। बाण ने सर्व प्रथम इसको आरम्भ किया था। उन्होंने हर्ष की कथा के साथ समकालीन सांस्कृतिक और लोकजीवन का सटीक वर्णन किया है। राजपूत युग में राजा और उसकी विजयों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वाक्पति राज ने 'गउड़वहो' नामक काव्य लिखा। इसमें प्राकृत भाषा में कन्नौज नरेश यशोवर्मा (आठवीं शती) की गौड़ (बंगाल) विजय का वर्णन है। चालुक्य नरेश विक्रमादित्य छठे (बारहवीं शती) का यशोगान कवि बिल्हण ने अपने विक्रमांकदेवचरित में किया है। बिल्हण का काव्य ऐतिहासिक व सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से उत्तम है। चौरपंचाशिका नामक स्वतंत्र कविता भी उन्होंने लिखी थी। पद्मगुप्त (११ वीं शती) ने मालवा के राजा सिंधुराज पर नवसाहसांकचरित लिखा। बल्लाल कवि ने परमार राजा भोज पर भोजप्रबंध लिखा। ऐतिहासिक चरितकाव्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ कल्हण (१२ वीं शती) की राजतरंगिणी है। राजतरंगिणी में कल्हण ने प्राचीन काल से लेकर अपने समय तक के काश्मीर नरेशों का चरित और इतिहास दिया है। क्रमबद्ध इतिहास का यह ग्रंथ संस्कृत साहित्य में अनोखा है।

राजपत युग की एक विशेषता इसका कथा साहित्य है। लोक में प्रचलित और काल्पनिक कथाओं के विशाल संग्रह बनाये गये।

क्षेमेन्द्र (११ वीं शती) की बृहत्कथामंजरी और सोमदेव (१२ वीं-शती) का कथासरितसागर कहानियों के विशाल संग्रह हैं।

साहित्य शास्त्र के कुछ प्रसिद्ध आचार्य भी इस समय हुए। इनमें राजशेखर, मम्मटाचार्य, और भोजदेव प्रमुख हैं।

इस काल के प्रसिद्ध वैयाकरणों में कैयट हैं। कोशों की जो परिपाटी गुप्तकाल से चली आती थी वह राजपूत युग में आगे बढ़ी और अनेक प्रसिद्ध कोश बने। मेदिनी, वैजयंती और हेमचन्द्राचार्य का अभिधानचिंतामणि प्रधान कोश ग्रंथ हैं।

संग्रह ग्रंथ—राज्यों में तत्कालीन ज्ञान के संग्रह ग्रंथ बनते थे। प्राचीन परम्परा में चाणक्य का अर्थशास्त्र और शुक्रनीति ऐसे ही ग्रंथ थे। राजपूत काल में इन संग्रह ग्रंथों का बहुत प्रचार था। भोज के समय का समरांगणसूत्रधार, सोमेश्वर का मानसोल्लास, भुवन देव कृत अपराजितपृच्छा आदि ग्रंथ इसी शैली में हैं। संग्रह ग्रंथों में स्थापत्य और शिल्पशास्त्र का भी वर्णन रहता था। शिल्पशास्त्र के स्वतंत्र ग्रंथ भी मिलते हैं।

दर्शन साहित्य—इस युग में दर्शनों का भी विशाल साहित्य बना। जैसा पहले कह चुके हैं कि आठवीं शताब्दी के बाद दर्शन ग्रंथों में भाष्य और टीकाएँ ही लिखी गयीं। वेदान्त दर्शन के सबसे बड़े आचार्य शंकर इसी समय हुए। उन्होंने वेदांतसूत्रों, गीता और प्रमुख उपनिषदों पर अपने भाष्य लिखे। कुमारिल भट्ट ने भी मीमांसासूत्रों पर अपना भाष्य लिखा। बौद्धों में शान्तरक्षित इस काल के प्रधान दार्शनिक थे। सहजयान बौद्ध धर्म, तंत्रमंत्र, कुंडलिनीयोग, और शैव मत के अनुयायी नाथों का धर्म और दर्शन सब इसी युग की देन हैं। रामानुज, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य भी इसी समय के दार्शनिक थे। विज्ञानभिक्षु ने योगभाष्य पर टीका लिखी और

सांख्यसूत्रों का भाष्य किया। प्रमुख दार्शनिकों में वाचस्पति मिश्र और उदयनाचार्य का नाम उल्लेखनीय है।

टीकाएं—इस युग में प्राचीन स्मृति ग्रंथों पर टीकाएं लिखी गयीं। टीकाकारों में कुल्लूक भट्ट, विज्ञानेश्वर और मेधातिथि प्रसिद्ध हैं। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य-स्मृति पर मिताक्षरा नामक टीका लिखी। विज्ञानेश्वर चालुक्य राजा विक्रमादित्य छठे के दरबार में थे। उनकी मिताक्षरा टीका हिंदुओं के सामाजिक और पारिवारिक नियमों का आधार मानी जाती है।

जैन साहित्य—इस काल में जैन साहित्य की भी बहुत उन्नति हुई। जैनों के धार्मिक साहित्य पर अच्छे भाष्य व टीकाएँ बनी। जैन आचार्यों ने इनके साथ बहुत से कथा ग्रंथ और इतिहास भी लिखे। हरिभद्र सूरि (नवीं शती), सिद्धार्थ (१० वीं शती), शांति सूरि (११वीं शती) और हेमचन्द्रार्य (११वीं शती) के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाषा के क्षेत्र में राजपूत युग की सबसे बड़ी विशेषता अपभ्रंश और लोकभाषाओं का उदय था। यह एक नई शक्ति जनता के हाथ में आ गई। ८वीं शती से १०वीं शती तक अपभ्रंश भाषा में सैकड़ों काव्य लिखे गए। हिमालय से लेकर बंगाल, आसाम और कर्नाटक-गुजरात तक अपभ्रंश का प्रचार था। फिर ११वीं शती के लगभग देशी भाषाओं का उदय हुआ। अवधी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, बंगला, मैथिली, आदि प्रादेशिक भाषाएँ ११वीं-१२वीं शती में अपने प्राचीनतम रूप में ढल कर जनता के सामने आ गईं। साहित्य, संस्कृति और विचारों की उन्नति के लिये देशी भाषा एक नई शक्ति थी। इन्हीं में आगे चलकर हर एक प्रदेश में बड़े ग्रन्थ लिखे गए, जैसे ज्ञानेश्वर की ज्ञानेश्वरी, जायसी का पद्मावत और गोसाईं तुलसीदास की रामायण।

राजपूत युग की कला—इस युग में कला की सर्वांगीण उन्नति हुई थी। राजा कलाकारों व शिल्पियों को विशेष आश्रय देते थे। कला का स्तर काफी ऊँचा रहा। विशाल देवमन्दिरों को सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों और अलंकरणों से सजा दिया गया। यह कहा गया है कि इस युग का शिल्पी सच्चे स्थपति की तरह विशाल भवन बनाना शुरू करता था और उसे एक मूर्ति की तरह सजाकर समाप्त करता था।

गुर्जर प्रतिहारों के मन्दिर और भवन नष्ट हो गए हैं पर मूर्तियाँ बड़ी संख्या में मिलती हैं। ये मूर्तियाँ बहुत सुघड़ और बनावट में बहुत अच्छी हैं। प्रतिहार कलात्मक अभिरुचि में गुप्तों के सच्चे उत्तराधिकारी थे। पाल राजा बौद्ध थे। उन्होंने बहुत से बड़े बड़े बिहार बनाए। नालन्दा में उन्होंने विशाल और सुन्दर भवनों का निर्माण कराया। पालों ने विक्रमशिला और उदंतपुरी के नए विश्व-विद्यालय स्थापित किए। पाल मूर्तियों में अधिकतर राजमहल पहाड़ियों का सलेटी पत्थर प्रयुक्त हुआ है। पालराजाओं ने धातु की मूर्तियाँ भी बड़ी मात्रा में ढलवाईं। उनकी मूर्तियों की विशेषता सुन्दर अलंकरण और सुडौल रचना है।

राष्ट्रकूटों की निर्माण शक्ति अद्भुत थी। उन्होंने एलोरा के और घारापुरी (एलीफेण्टा) के गुहा मन्दिर बनवाए। एलोरा में डेढ़ मील की लम्बाई में पहाड़ काटकर बौद्ध विहार, शिव मन्दिर और जैन मन्दिर बनाए गए हैं। सबका सिरमौर कैलाश नामक शिव मन्दिर स्थापत्य का एक चमत्कार है। तीन सौ फुट लम्बे, ढाई सौ

फुट चौड़े और सवा सौ फुट ऊँचे पहाड़ को काटकर इस मन्दिर का निर्माण किया गया है। विशाल प्रांगण के बीच में २५ फुट ऊँचे पीठ पर मन्दिर बनाया गया है। त न ओर शिव की कथाओं और लीला की मूर्तियों से भर हुए दालान हैं, सामने की ओर विशाल प्रवेश द्वार है। मन्दिर में शिव की विशाल मूर्ति है। सामने एक विस्तृत मण्डप है जिसकी छत बड़े बड़े खम्भों पर टिकी है। सम्पूर्ण स्थल भाँति भाँति की मूर्तियों और अलंकरणों से सजा है। इस मन्दिर के महान् स्थपति का धैर्य और निर्माणकौशल उच्चतम स्तर पर पहुँचा हुआ था। एलीफेंटा के गुफा मन्दिर की विशाल त्रिमूर्ति भी अद्भुत है।

राजपूत युग का उत्तरार्ध—इस युग में गुजरात के सोलंकियों के बनवाए मन्दिर अत्यन्त सुन्दर हैं। मोढेरा का सूर्य मन्दिर प्रसिद्ध है। इस प्रदेश की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ जैनों के आबू, शत्रुञ्जय-पालिताना और गिरनार के मन्दिर हैं। विमलशाह (दसवीं शती) और तेजपाल (बारहवीं शती) सोलंकियों के मन्त्री थे। आबू पर इन्होंने अकूत धन लगाकर मन्दिर बनवाए। इन मन्दिरों के अलंकरण और कटाव का काम संसार में बेजोड़ है। संगमर्मर को मोम की तरह काटा गया है। जैसे सुनार सोने के गहने में बारीक काम करता है वैसा ही यहाँ दूधिया पत्थर में हुआ है।

परमारों में राजा उदयादित्य का बनवाया हुआ मध्यभारत के उदयपुर नामक स्थान पर उदयेश्वर शिव का मन्दिर सर्वश्रेष्ठ है।

बुन्देलखण्ड के चन्देलों के तीन केंद्र थे। खजुराहो उनका धार्मिक तीर्थ, कालिंजर प्रधान दुर्ग और महोबा उनकी राजधानी

थी। खजुराहो के मन्दिर सबसे मुख्य हैं। इनमें कन्दरिया महादेव का विशाल मन्दिर (१००० ई०) भारतीय मन्दिर कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। चन्देलों की मूर्तिकला भी बहुत उन्नत थी।

इस युग में उड़ीसा प्रदेश में भुवनेश्वर के लिंगराज, मुक्तेश्वर और राजारानी मन्दिर एवं कोणार्क का सूर्यमन्दिर बहुत महत्वपूर्ण हैं। कोणार्क का सूर्यमन्दिर (१२६३ ई०) नरसिंहदेव ने बनवाया था। भारतीय मन्दिरों में यह मन्दिर सबसे विशाल है। इसका गर्भगृह अब गिर गया है। यह मन्दिर सूर्य के विशाल रथ के रूप में बनाया गया था।

दक्षिण में चोलों के (तंजौर में) राजराजेश्वर और बृहदीश्वर शिव मन्दिर (१०वीं–११वीं शती) हैं। इनको रचना विशाल पैमाने पर हुई है। ये मन्दिर संसार के आश्चर्य हैं। बाहर तरह तरह की मूर्तियों और कटाव के काम से ये मन्दिर खूब सजाए गए हैं। भीतर दीवारों पर सुन्दर चित्रों में शिव पार्वती सम्बधी कथाएँ दिखाई गईं हैं। चोलों ने दक्षिण में धातु मूर्तियाँ ढालने की कला को नया प्रोत्साहन दिया। उस युग की सर्वोत्तम रचना तंजोर से प्राप्त नटराज की मूर्ति है। भगवान शिव ताण्डव की मुद्रा में प्रलय नृत्य कर रहे हैं। उनके एक हाथ में प्रलयाग्नि है और दूसरे हाथ से भक्तों को अभय दे रहे हैं। दो हाथ नृत्य की मुद्रा में हैं। वेग से नाचने के कारण उनकी जटाएँ लहरा रही हैं और एक पैर के नीचे उन्होने कलि या अन्धकार को दबा रखा है। यह मूर्ति भारतीय कला की सर्वोत्तम रचना मानी जाती है।

अध्याय ११

हिन्दू धर्म व इस्लाम

इस्लाम का उदय—सातवीं शतों के मध्य में अरब में एक नई जागृति हुई। अरब देश बहुत से कबीलों में बँटा हुआ था। ये सैकड़ों कबीले आपस में मरणान्तक युद्ध करते थे। इनके बहुत से देवता थे जिनकी मूर्तियों को ये अन्धश्रद्धा से पूजते थे। अक्षर-ज्ञान से ये लोग शून्य होते थे। बनीकुरैश के कबीले में मुहम्मद नामक महा पुरुष ने जन्म लिया। मुहम्मद अरब के पढ़े लिखे कुछ लोगों में से थे। अपने देशवासियों का अन्धविश्वास और खूँरेजी देखकर मुहम्मद को बड़ा दुःख होता था।

मुहम्मद अद्भुत विचार शील मनुष्य थे। इन्होंने धीरे-धीरे अपनी स्थित को दृढ़ किया और एक नया मत चलाया। उन्होंने कहा—'खुदा एक है, मुहम्मद उसका पैगम्बर है। एक ईश्वर पर ईमान लाओ। ईश्वर के सामने उस पर ईमान लाने वाले (मुस्लिम) सब बराबर हैं। मुहम्मद ने अज्ञान, अन्ध विश्वास और मूर्ति पूजा के विरुद्ध जिहाद बोल दिया। प्रारम्भ में मुहम्मद को बड़ी कठिनाई पड़ी। पर धीरे-धीरे उनके अनुयायी बढ़ने लगे। कुछ प्रभावशाली व्यक्ति जैसे

अबूबक्र, उमर आदि जब मुस्लिम बने तब इस्लाम का प्रभाव अरब में बहुत बढ़ गया। मुहम्मद ने अपने जीवन में अरब जाति को एक राष्ट्र और इस्लाम धर्म का अनुयायी बना दिया। मुसलमान मुहम्मद को नबी और हज़रत कहते हैं। उनके वचन और शिक्षाओं का संग्रह कुरान में है जो इस्लाम की धर्मपुस्तक है।

मुहम्मद के बाद अबूबक्र पहले खलीफ़ा या प्रधान धर्माचार्य हुए। दूसरे खलीफ़ा उमर के समय में इस्लाम की जो बाढ़ अरब के रेगिस्तान से निकली तो एक ओर मिश्र, उत्तर अफ्रीका होती हुई स्पेन तक फैल गई, दूसरी ओर पूर्व में ईरान, मध्य एशिया और तुर्किस्तान पहुंची। मुहम्मद की मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही स्पेन से लेकर मध्यएशिया तक इस्लाम का शासन हो गया। कुस्तुंतुनिया का बिजैण्टाइन और ईरान का सासानी साम्राज्य तिनकों के मुट्ठों की तरह बह गए। प्रारम्भिक बाढ़ में अरब नए धर्म के उत्साह और कट्टरपन से एक हाथ में तलवार और दूसरे में कुरान लेकर संसार में आगे बढ़े। पर समयानुसार अरबों की कट्टरता कम हो गई और उन्होंने विजित देशों की संस्कृत में रुचि लेना शुरू किया। इस्लाम पर सबसे अधिक प्रभाव ईरान का पड़ा। फ़ारसी राजभाषा हो गई। ईरानी रीतिरिवाज, शिष्टाचार, कलाप्रेम, और नफ़ासत अरबों को बहुत प्रिय हुई। यह प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि रोज़ा, नमाज़, पैग़म्बर, बहिश्त आदि इस्लाम धर्म के पारिभाषिक शब्द फ़ारसी भाषा से लिए गए। वस्तुतः वे चारों प्राचीन ईरानी भाषा की परम्परा में मूल संस्कृत के शब्द थे। आठवीं शताब्दी में बग़दाद में खलीफ़ा की राजधानी आ गई।

बग़दाद बहुत समय तक संसार का अद्भुत् संस्कृति केन्द्र रहा। ख़लीफ़ा हारूँ-अल-रशीद और सहस्र-रजनी-चरित्र (अलिफ़लैला) ने इस संस्कृत को अमर बना दिया है।

आठवीं शताब्दी में पूर्व की ओर बढ़ते हुए अरबों ने सिंध में एक राज्य कायम किया। अरब भारतवर्ष में भी विनाश का ताण्डव करते आए थे, पर शीघ्र ही उन्होंने अद्भुत भारतीय संस्कृति को पहचाना। भारत से उन्होंने बहुत कुछ सीखा और यहां के विशाल साहित्य का अरबी में अनुवाद किया। भारतीय विद्वान और वैद्य बग़दाद में ख़लीफ़ाओं के संरक्षण में रहे। नवीन शिक्षा प्रणाली, ज्ञान और चिकित्सापद्धति का अरबों में प्रचार हुआ। भारतीय गणित, ज्योतिष और अंकों की दशमलवप्रणाली अरबों ने भारत से सीखीं। और पश्चिम में भी उनका प्रचार किया। भारतीय तत्व-ज्ञान और दर्शन को भी अरबों ने लिया, पर उन पर सबसे अधिक प्रभाव ग्रीक व यहूदी दर्शन और तत्व-ज्ञान का पड़ा। भारत के राजपूत राजाओं की बढ़ती हुई शक्ति ने नवीं सदी में अरबों को भारत से निकाल दिया।

उधर १००० ई० तक अरबों ने पश्चिमी अफ़ग़ानिस्तात और मध्य-एशिया को पूरी तरह मुसलमान बना लिया था। ये नए बने हुए मुसलमान जो कभी बौद्ध थे और जिन्हों ने बड़े बड़े कलात्मक बिहार और स्तूप बनाए थे नया जोश लेकर दसवीं शदी के अन्त में भारत पर टूट पड़े। पर दो सौ वर्षों तक भारत की राष्ट्रीय शक्ति ने उन्हें बाहर ही रोके रक्खा। तेरहवीं शती के आरंभ में इस्लाम भारत में अपने पैर जमा सका।

भारत के हृदय तक घुस आने में इस्लाम को पाँच सौ वर्षों का समय (७१२-१२०६) लग गया और घनघोर प्रयत्न करना पड़ा। फिर भी १३वीं शती से १५वीं शती तक भारत के प्राचीन राज्य प्रतिरोध का झण्डा उठाए ही रहे।

अफ़ग़ानों और तुर्कों ने अपना राज्य देहली में तेरहवीं शती के मध्य तक जमा लिया। इस्लाम के इस धक्के ने भारत को हिला डाला, अभूतपूर्व पैमाने पर विनाश, लूट और हत्याकाण्ड हुआ। बौद्धों के बड़े बड़े विहार और शिक्षा केन्द्र आग की भेंट हो गए। बौद्ध धर्म भारत से सदा के लिये मिट गया। इन आक्रमणों ने भारतीय कला को अपरिमित हानि पहुँचाई। पेशावर से लेकर बिहार तक एक भी प्राचीन बौद्ध स्तूप, विहार या हिन्दू मन्दिर सुरक्षित नहीं बचा।

सुल्तानों के समय में विशेष रूप से ईरानी और तुर्की तथा मुख्य रूप से पश्चिमी तुर्क या सेलजुकों की संस्कृति अधिक सम्मान्य हुई। राजकीय शिष्टाचार तथा दरबार के नियमों एवं उत्सवों में ईरानी सोफियानापन आ गया। विशेषरूप से बलबन के समय राजा के लिए पाबोस तथा नौरोज द्वारा सम्मान प्रदर्शन किया जाता था।

तत्कालीन भवनों के अवशेषों तथा कुछ नगरों में तुर्की प्रभाव स्पष्ट है। यद्यपि अलंकरण की पद्धति ईरानी थी, पर कहीं कहीं भारतीय प्रभाव भी है जो स्थानीय भारतीय पद्धति के शिल्पियों के कारण आया। बागों का शौक जो ईरानी प्रभाव से था विशेष रूप से फीरोज तुगलक के समय में बढ़ा।

सोलहवीं शती के आरम्भ में बाबर हिन्दुस्तान में आया। बाबर स्वयं तुर्क था परन्तु उस समय तक ईरानी प्रभाव तत्कालीन सुसंस्कृत मुस्लिम समाज पर स्पष्ट था। बाबर स्वयं बड़ा रसिक, कविहृदय, सुन्दर लेखक एवं सौन्दर्य का प्रेमी था। चित्रकला भी उसको स्वीकार्य थी। शराब तथा संगीत का वह शौकीन था। इस्लाम की कट्टरता तथा तुर्कों के क्रूर स्वभाव के बावजूद भी तत्कालीन मुस्लिम समाज में रुचि तथा कलाप्रेम ईरानियों के कारण व्याप्त हो रहा था। बाबर ने अपने, अपने पूर्वज तैमूर तथा पुत्र हुमायूँ के भी चित्र बनवाए। मालूम पड़ता है ईरान तथा चीन के मध्य भाग में रहने के कारण एवं मंगोलों के चौदहवीं शताब्दी में देशों की पृथक् सीमाओं को तोड़ देने के कारण ईरानी तथा चीनी प्रवृत्तियाँ इन लोगों में व्याप्त हुईं।

हुमायूँ के समय ईरानी संस्कृति की छाप अमिट रूप से मुगलों पर पड़ी। फारसी राजभाषा हुई, फारसी रीतिरिवाज और प्रवृत्तियाँ मुगलों में फैल गईं।

अकबर ने तत्कालीन भारतीय समाज के गुणों तथा प्रवृत्तियों को ईरानी वस्तुओं के साथ मिलाकर कला को और संस्कृति की एक नई शैली को जन्म दिया जिसे हम मुगल शैली कहते हैं। देश तथा काल से उत्पन्न विभिन्नताओं को छोड़कर वस्तुतः मुगल कला का रूप सारे देश में फैल गया। मुगल संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—ईरानियों जैसी नफासत, धार्मिक सहनशीलता, भारत देश के प्रति स्नेह, संगीत प्रेम, साहित्य में अभिरुचि, भारतीय तत्वज्ञान

और विचारों के प्रति प्रेम, कला का व्यापक प्रचार और संरक्षा, चित्रों में ईरानी बारीकी के साथ भारतीय चटकीले रंग, वास्तुकला में ईरान के महराब और गुम्बद एवं भारतीय अलंकरणों की बारीकी का संयोजन।

सूफीमत—सभ्य विद्याप्रेमी मुसलमान भारतीयों के सम्पर्क में आने लगे थे। ईरानी मुसलमान भी बड़ी मात्रा में भारत में आए। सबसे पहले इनका ध्यान भारतीय तत्वज्ञान और वेदान्तदर्शन की ओर गया। वेदान्त से मिलता जुलता सूफी मत चला। प्रमुख सूफी विचारक और सन्त भारत से सम्बन्धित थे। शेख शादी (११८४ १२९२) जलालुद्दीन रूमी (१२०७–७३) और उनके गुरु शम्सतबरेजी और कवि हाफिज (१३२०–९१) या तो भारत आए थे या उन्होंने वेदान्त का अध्ययन किया था। सूफीमत पर कट्टर लोगों ने बड़े अत्याचार किए किन्तु भारत में उन्हें शरण मिली। शम्सतबरेजी भारत में ही मरे। मुलतान में उनका मकबरा है। भारत में भी सूफियों के चार सम्प्रदाय फैले, सुहरावर्दी, चिश्तीं, कादिरी और नक्शबन्दी। इनमें चिश्ती बहुत मशहूर हुआ। इसी में अजमेर के मुईनुद्दीन चिश्ती हुए। इन्हींकी परम्परा में हिन्दी के महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए। शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह भी सूफीमत के माननेवाले थे जिन्होंने उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया।

सूफी मनोवृत्ति के प्रसार से अद्भुत सौन्दर्यशाली साहित्य की सृष्टि हुई। लौर चन्दायन, पद्मावत, मृगावती, मधुमालती आदि

काव्यों की रचना इस परम्परा में हुई। इस परम्परा की विशेषता यह है कि इसमें विशुद्ध भारतीय कथानकों, और अलंकरण के उपादानों को आधार बनाकर सूफीमत का जो वेदान्त का समकक्ष है, सुन्दर विवेचन किया गया। लैला मजनूँ की कथा के बजाय पद्मावती रतनसेन या लौर-चंदायन की कथा प्रयुक्त की गई। ऐसे ही गुल और बुलबुल के बजाय कमल और कोकिल की प्रशंसा रही। इसमें कहीं पर भी हिन्दू या मुसलमान का सवाल नहीं उठाया गया। पर यह प्रवृत्ति सुसंस्कृत तथा साहित्यिक अभिरुचि के लोगों में रही। यह वर्ग अवधी से अधिक स्नेह रखता था। संभवतः अवध ही उसका कार्यक्षेत्र रहा हो। सूफी सन्तों के मलफूजात (उपदेश) और तजकिरात (जीवनी) संग्रहों में सूफी विचारों के साथ बहुत से भारतीय विचार और अवधी कविता भी पाई जाती है। सूफियों ने पुराने धर्मों से बहुत कुछ लिया। विशेष रूप से योगपद्धति को अपनाया।

भारतीय भाषाएँ—मुगलकाल के दरबारी तौर तरीके और फ़ारसी भाषा के साथ भारतीय प्रचलित बोलियों के संपर्क में आने से एक नई भाषाका जन्म हुआ। मुस्लिमकालसे पूर्व और कुछ समय बाद तक भी स्थानिक बोलियों के होते हुए भी संस्कृत सदैव राजभाषा और सर्वप्रचलित सार्वदेशिक भाषा के रूप में रही। यह हमें उस समय के प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है। भारतीय राजा स्वयं संस्कृतज्ञ और संस्कृत विद्या के बड़े प्रेमी थे। उत्तर मध्यकाल (१० वीं से १२ वीं शती) में कुछ देशज भाषाएँ

बड़े विस्तृतक्षेत्र में प्रचलित हुईं, जैसे अवधी, ब्रज, मैथिली आदि ये बोलियां प्राचीन तथा पूर्व मध्यकाल (८वीं से १०वीं शती) की प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं की वंशज थीं। ये जनता की भाषाएँ थीं। मुसलमान शासकों की राजभाषा में तुर्की और फारसी थी। भारतीयों के साथ संपर्क में आने के लिये अपेक्षाकृत सरल बोलियाँ उन्होंने अपनाना शुरू किया। इस संपर्क के परिणामस्वरूप वे भारतीय बोलियों को फारसी लिपि में लिखने लगे तथा फारसी के तत्सम और देशज तद्भव शब्दों को मिलाकर एक सरल भाषाका जन्म हुआ जिसे 'हिन्दुई' कहा गया। हिन्दुओं ने अपनी देशभाषाओं में इस परिष्कार को अपनाया। देवनागरी लिपिमें भारतीय भाषाओं के संस्कृत के शब्दों के साथ कहीं कहीं फारसी-तुर्की के तद्भव शब्दों को लेकर हिन्दू मुसलमानों की भाषा बनी। यही आधुनिक उर्दू और हिन्दी में परिणत हुईं। समन्वयात्मक रुचि के और भारतीय संस्कृति के प्रेमी बहुत से मुसलमानों ने अपने साहित्य के वास्ते अवधी और ब्रज का प्रयोग किया। संस्कृत का पठन-पाठन सुसंस्कृत भारतीयों और पंडितों में तब भी रहा। काशी, मिथिला, नवद्वीप, पूना और दक्षिण के बहुत से स्थानों पर संस्कृत की परम्परा सुरक्षित रही।

अध्याय १२

भारतीय राजशास्त्र

भारतीय राजशास्त्र का इतिहास वैदिक युग से आरंभ होकर अर्वाचीन युग तक बराबर मिलता है। यहाँ एकराज्य और गणराज्य दो प्रकारकी शासनप्रणाली मुख्य थीं। प्राचीन ग्रीक गणराज्यों की भाँति यहाँ भी बहुसंख्यक गण या संघों ने लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक राज्य किया किन्तु फिर साम्राज्य और राज्य पद्धति ने संघों को अपने भीतर पचा लिया और देश में छोटे बड़े अनेक राज्यों का सिलसिला पाँचवीं शती से आजतक बराबर कायम रहा है।

प्रमाण सामग्री और साहित्य—वैदिक और ब्राह्मण साहित्य में जन और राजा के विकास या पारस्परिक सम्बन्ध की काफी सामग्री है। पाणिनि की अष्टाध्यायी और बौद्ध पालीसाहित्य में गणराज्यों के नाम और शासन के बारे में आश्चर्यजनक नई सामग्री मिली है। महाभारत में राजा और संघ दोनों शासन पद्धतियों पर खुलकर विचार किया है। विशेषतः शान्तिपर्व में गणों के विधान और आदर्श के बारे में मूल्यवान सामग्री है।

राजा की उत्पत्ति—भारतीय विचारकों ने राजा को राष्ट्र का सर्वोच्च शिखर (ककुद) कहा है। वे राजा को राष्ट्र के जीवन के लिये अनिवार्य मानते हैं। राजा की उत्पत्ति कैसे हुई? इस विषय में कई कल्पनाएँ हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में कथा है कि देवों और असुरों के युद्ध में देवता हार गए। उन्होंने अनुभव किया कि राजा के न होने से वे हारे। तब उन्होंने अपना राजा चुना और उनकी जीत हुई।

कौटिल्य (ई० पू० ४ थी शती) ने राजा की उत्पत्ति के बारे में लिखा है—'पहले युग में प्रजाओं में लोग एक दूसरे को मछली के समान खाने लगे (मात्स्य न्याय)। उस अवस्था से बचने के लिये जनता ने वैवस्वत मनु को राजा चुना। तब से ही दण्ड (शासन) को धारण करनेवाले राजा की उत्पत्ति हुई।'

इन कथाओं का अभिप्राय यह है कि दो उद्देश्यों के लिये राजसंस्था का आरभ हुआ, एक तो युद्ध में नेतृत्व के लिये, दूसरे दण्ड और न्याय की व्यवस्था के लिये जिससे सबल निर्बल का भक्षण न करें। पश्चिमी जगत् में राजनीति सिद्धान्त के लेखक भी राजा की उत्पत्ति के विषय में ऊपर के दोनों मतों से सहमत हैं।

वैदिक युग से ही भारतवर्ष में राजा का अस्तित्व पाया जाता है। उस समय राजा का अभिषेक किया जाता था। उसे ऐन्द्रमहाभिषेक

कहते थे। अर्थात् वह अभिषेक उसी तरह का था जैसा कभी पहले देवों के राजा इन्द्र का हुआ था। इस अभिषेक-संस्कार का जो वर्णन दिया हुआ है उससे राजा के कर्त्तव्य और अधिकारों के विषय में बहुत प्रकाश पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें राजा की निरंकुशता पर कई तरह की रोक-थाम लगाई जाती थी और उसे प्रजा के प्रति वफादार रहने की कठोर शपथ से बाँधा जाता था। उस अभिषेक-प्रथा की मुख्य बातें ये थीं—

(१) राजा के चुनाव में जनता की सम्मति आवश्यक थी।

(२) राष्ट्र की चुनी हुई सभा या समिति विश् या जनता की ओर से राजा का चुनाव करती थी।

(३) राजा राज्य-कार्य के लिये मंत्रिपरिषद् पर निर्भर होता था। मंत्री योग्य और समाज में प्रभावशाली व्यक्ति होते थे। राज्य की बड़ी मुहर या 'रत्न' के लिये जिम्मेदार होने के कारण ये मंत्री 'रत्निन्' कहलाते थे।

(४) प्रजा राजा को हटा सकती थी, देश निकाला दे सकती थी, और फिर बुला कर राजपद दे सकती थी।

(५) अभिषेक के समय राजा के अधिकारों पर मर्यादाएँ लगाई जाती थीं।

अभिषेक व राजसूय—राजसूय का नियम था कि आसंदी या राजगद्दी पर बैठने से पूर्व राजा का अभिषेक होना चाहिए। उसकी कुछ मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) राजा पृथिवी का संबोधन करता है—'तुम माता हो। मैं तुम्हारा पुत्र हूं। मैं कभी पृथिवी की हिंसा न करूँगा।'

(२) इसके बाद प्रसवितृ देवों को अग्नि में आहुतियाँ दी जाती हैं। इनके द्वारा राजा प्रजापालन के लिये देवताओं के वे गुण प्राप्त करता है जिनसे विश्व के देवता सब का पालन कर रहे हैं।

(३) सत्रह स्थानों से इकट्ठे किए हुए जल से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य राजा का अभिषेक करते हैं।

(४) फिर राजा व्रत धारण करता है।

(५) राजा शपथ लेता है—"जिस दिन मेरा जन्म हुआ और जिस दिन मेरी मृत्यु होगी, उन दोनों के बीच में जो मेरा यज्ञफल, पुण्य, आयु और सन्तान हैं, सब नष्ट हो जाएँ, यदि मैं तुमसे द्रोह करूँ।

(६) इसके उपरान्त राष्ट्र के चारों अंग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को आमन्त्रित किया जाता है कि वे राजा की रक्षा में सदैव सावधान रहें। राजा के नाम की घोषणा के साथ कहा जाता

है— 'तुम्हें यह राष्ट्र दिया जाता है, कृषि के लिये, जनता के कल्याण के लिये और सब प्रकार से इसके पालन और उन्नति के लिये।'

यह अभिषेक-विधि वैदिक युग से शुरू हुई। इस देश में जितने राजा हुए, सबको विधि से राजगद्दी दी गई। इसमें सिद्धान्त रूप से राजा के ऊपर राष्ट्र की सत्ता को स्वीकार किया गया है।

राजा की सत्ता—हिन्दू राजशास्त्र के अनुसार धर्म ही राजा का सच्चा अधिपति है। राजा दण्ड या शासन का वह रूप है जो धर्म की रक्षा और स्थापना करता है। राजा के दैवी अधिकार की कल्पना नहीं है। राजा धर्म को बनानेवाला नहीं है। वह केवल उसकी रक्षा करता है। राज्य धरोहर (निक्षेप) की तरह राजा को सौंपा जाता है। राज्य पर राजा के अधिकार की कसौटी जनता का कुशलक्षेम और उन्नति है।

अधिकारीवर्ग—राजा के साथ दो प्रकार के अधिकारी वर्ग होते थे। एक सभा और समिति के सदस्य जो राजा को चुनते थे। दूसरे शासनकर्ता अधिकारीगण जो राजा की आज्ञा के अनुसार शासन चलाते थे। इनमें पुरोहित, सेनापति, मंत्री इत्यादि होते थे।

धीरे धीरे कई प्रकार की शासन प्रणाली का विकास हुआ, जैसे छोटा राज्य, बड़ा साम्राज्य, संघराज्य अथवा समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का चक्रवर्ती राज्य।

गण या संघ राज्य

महाभारत के युग में दो प्रकार के राज्य थे—(१) साम्राज्य और (२) गणराज्य। साम्राज्य में राजा का शासन होता था। उसके सामने अभीतक वैदिक आदर्श और कल्याण का ही रूप था। गणराज्य में शासन प्रजाओं के प्रतिनिधि करते थे। उनका चुनाव भी होता था। गणों को संघ भी कहते थे। महाभारत में उनका व्यौरेवार उल्लेख है। बौद्ध साहित्य में गणतंत्र की शासन णाली व संगठन का अच्छा परिचय मिलता है। बुद्ध स्वयं शाक्यों के गण में पैदा हुए थे। उन्होंने बौद्धसंघ का संगठन भी गण के ढंग पर ही किया था। उत्तर पश्चिमी भारत, पंजाब और उत्तर भारत में बहुत से जनपदों में गणराज्य या संघ शासन था।

संघ—महाभारत में अंधक-वृष्णि संघ का उल्लेख है। इसमें यादवों के बहुत से छोटे संघ एक साथ मिलकर बड़ा संघ बनाए हुए थे जो पहले मथुरा में और बाद में द्वारका तक फैला हुआ था। बौद्धसाहित्य में वैशाली के वृजिसंघ का उल्लेख है जिसमें लिच्छवि, विदेह, ज्ञातृ आदि ग्यारह जातियों ने साथ मिलकर शक्तिशाली संघ बनाया था।

गणों की शासन प्रणाली—गणों का मुखिया भी राजा कहलाता था। समय समय पर राजा का चुनाव होता था। राजा शासन का

प्रधान होता था। समय समय पर संघ-सभा के सदस्य मिलकर योग्यता व कुल की श्रेष्ठता के आधार पर अपने में से नये राजा का चुनाव करते थे। कृष्ण भी इसी प्रकार संघमुख्य चुन लिये गये थे।

गण की सभा होती थी। इसका प्रत्येक सदस्य भी राजा या राजन्य कहलाता था जैसे—वृजिसंघ में ७७०७ राजा थे। ये लोग समय समय पर अपने संस्थागार (सीनेट हाउस) में जमा होते और राज्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर मत देते व नये नियम बनाते थे।

संघ की सभा के अधिवेशन के लिये सब सदस्य अपने संस्थागार में जमा होते थे। गणपूरक (आधुनिक ह्विप) का यह कार्य था कि वह देखे कि गणपूर्ति या संघपूरक संख्या (कोरम) के लिये नियत संख्यक सदस्य उपस्थित हैं।

आसनप्रज्ञापक नामक अधिकारी यथास्थान सब सदस्यों के बैठने का प्रबन्ध करता था।

सभा का अध्यक्ष विनयधर कहलाता था। पूरक संख्या में उसकी गिनती नहीं होती थी।

कार्य के नियम—संघ की सभा में सदस्य अपने प्रस्ताव (ज्ञप्ति) को रखते थे। प्रस्ताव का अनुमोदन (स्थापन) आवश्यक था।

उसके बाद उसकी नियमित आवृत्ति होती थी जिससे सब सदस्य प्रस्ताव को सुन लें। जो सदस्य पक्ष में होते थे वे मौन रहते थे। जो विरुद्ध होता वह अपना मत व्यक्त करता था। संघ के द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव संघकर्म कहलाते थे।

सम्मत होने की युक्तियाँ—सदैव ही प्रस्ताव स्वीकृत नहीं होते थे। प्रायः वादविवाद उठ खड़ा होता था। इसके लिये प्रयत्न किया जाता कि विभिन्न दलों (पार्टीज) के नेता शान्तिपूर्वक तय करके अपने साथियों को समझा दें। दूसरी पद्धति यह थी कि एक उपसमिति नियुक्त की जाती थी जो झगड़े का निबटारा करे। इसमें विनयधर, राजा और प्रमुख सदस्य होते थे। ऐसी समिति पंचायत के ढंग पर होती थी और इसका निर्णय अवश्य माननीय होता था।

बहुमत—संघ के कार्यों के लिये सब सदस्यों का एकमत होना आवश्यक था। पर जब एकमत न हो पाता तो संघ बहुमत से निर्णय करता था। ऐसा सदस्य जो पक्षपात, मोह और भय से रहित होता था मतदान का अधिकारी (शलाकाग्रहापक) बनाया जाता था।

मतदान—मत या वोट को छन्द कहते थे। मतदान विभिन्न रंगों की शलाकाओं (बैलेट) से होता था। शलाकाग्रहापक छन्द-शलाकाओं को सदस्यों में बाँट देता था। अपने मत के अनुसार सदस्य शलाकाएँ छाँट लेते थे। इस प्रकार बहुमत से निर्णय होता था।

ईसा की आठवीं शती पूर्व से पाँचवीं शती पूर्व तक भारत में

सैकड़ों गण राज्य थे। वह संघों की चरम उन्नति का युग था। पाणिनि ने अनेक संघों के नाम दिए हैं। जब चौथी शती ईस्वी पूर्व में पश्चिमी प्रदेश और पंजाब पर सिकंदर ने हमला किया तो संघों ने डट कर उसका सामना किया। क्षुद्रकमालव गणों के साथ उसका घोर युद्ध हुआ और उसके साथियों की हिम्मत टूट गई।

कौटिल्य—चौथी शती ई० पू० के अन्त में कौटिल्य ने मौर्यवंशी की संस्थापना की। उन्होंने राजनीति का प्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र बनाया। अर्थशास्त्र में विस्तार से राजनीति और शासन का वर्णन किया गया है। कौटिल्य कठोर और नियमबद्ध शासन के प्रचारक थे। उन्होंने अफगानिस्तान से लेकर सुदूर दक्षिण तक एकछत्र सत्ता की संस्थापना की।

कौटिल्य ने पंजाब के छोटे छोटे गणराज्यों से देश की कमजोरी को पहचान लिया था। उनका विश्वास था कि शक्तिशाली सेना और योग्य राजपुरुषों पर संगठित एकछत्र साम्राज्य इस देश की सबसे बड़ी सेवा है। इसलिये सार्वभौम साम्राज्य के निर्माण में उन्होंने अपनी सारी शक्ति लगा दी और इसमें वे सफल भी हुए।

कौटिल्य राजा को दण्डनीति का धारण करनेवाला मानते हैं। वे विरोधी, उच्छृङ्खल और अपराधी के लिये कठोरता के साथ दण्ड देने का विधान करते हैं। उनके मत से दण्डव्यवस्था इतनी सुव्यवस्थित

और कठोर होनी चाहिए कि अपराध की प्रवृत्ति पनप ही न सके। पर उनका यह भी मत था कि दण्ड की व्यवस्था वर्ण, पद और प्रतिष्ठा के अनुसार होनी चाहिए। यदि उत्तम सामाजिक स्थिति का व्यक्ति हीन अपराध करे तो उसे निम्न स्तर के व्यक्ति से अधिक दण्ड मिलना चाहिए।

कौटिल्य राजशास्त्र के अद्‌भुत आचार्य थे। उनके अनुसार परराष्ट्र नीति में तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं, अरि, मित्र और उदासीन। उनका मत था कि राज्य के निकटतम पड़ोसी स्वाभाविक शत्रु होते हैं। उनके बाद जो राष्ट्र होते हैं, थोड़ा दूर होने के कारण उनसे भूमि, सीमा इत्यादि के झंझट नहीं होते। वे मित्र राष्ट्र होते हैं। उनके बाद जो राष्ट्र होते हैं वे बहुत दूर होने के कारण उदासीन होते हैं। अपने राज्य के चारों ओर क्रम से इन तीन मंडलों की कल्पना राजा को करनी चाहिए।

कौटिल्य से दो सौ वर्ष पहले ही मगध में साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी। जरासंध एवं शिशुनाग और नन्दवंश के राजाओं ने पास पड़ोस के कई जनपदों को जीतकर मिथिला से चेदि तक और अंग (चम्पा भागलपुर) से काशी तक एक बड़ा राज्य बना डाला था। पर कौटिल्य ने चन्द्रगुप्त को नेता बनाकर आसाम से अफगानिस्तान और काश्मीर से मैसूर तक एक बहुत बड़े साम्राज्य की नींव डाली। इसके बाद सम्राट् अशोक ने इसकी और उन्नति की। मौर्यों के बाद शुंगवंश का राज्य हुआ। फिर यहाँ शक, कुषाण

आदि विदेशी आ गये। चौथी शती ईस्वी के आरम्भ में राज्यशक्ति पुनः इस देश के लोगों के हाथ में आ गई और गुप्तवंश की स्थापना हुई। उन्होंने प्रजाओं की सर्वांगीण उन्नति की। इस समय सम्राट् और प्रजाओं का सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया। राजा के अभिषेक की पद्धति तो पुरानी ही थी, पर राजा को पृथ्वी पर देवताओं का प्रतिनिधि माना जाने लगा था। ईरान के सासानी वंश, चीन के शाङ् वंश की तरह भारत के गुप्तवंश का प्रताप देश और विदेशों में भी तपा। भारत की साम्राज्य शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय यश और महत्त्व प्राप्त हुआ। समुद्रगुप्त ने लिखा है कि सिंहल आदि समुद्र पार के देशों ने भी उससे सन्धि की और अधीनता मानी। इस युग में प्रजा बहुत सुखी और समृद्ध थी। लोग समझते थे कि स्वर्ग के इन्द्र का राज्य पृथिवी पर ही स्थापित हो गया है और उनके घर में कुबेर ने सोना बरसा दिया है। पर इस समय की जो राजसत्ता थी वह एक छत्र होने के कारण निरंकुश भी होने लगी थी। गुप्तों ने रहे-सहे संघ राज्यों को समाप्त करके अपने साम्राज्य में मिला लिया। संघ राज्य कभी न पनप सके। राजपूतकाल में महान सम्राटों का उत्थान हुआ। उन्होंने सामन्त प्रणाली को प्रश्रय दिया। उसके बाद मुस्लिम शासक आ गए उनकी शक्ति बिल्कुल निरंकुश थी। प्रजा को कोई अधिकार न रह गया था।

अध्याय १३

भारतीय कला की मूल धाराएँ

भारतीय कला का इतिहास पाँच सहस्र वर्ष प्राचीन है। यह कला संसार की श्रेष्ठ कलाओं में गिनी जाती है। मूर्ति, चित्र, स्थापत्य और शिल्प सभी क्षेत्रों में रचनात्मक कार्य बहुत होता रहा है। भारतीय कलाकार का उद्देश्य ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि करना है जिससे मन और आत्मा को शान्ति प्राप्त हो। भारतीय कलाकार के लिये कला एक साधना है। जैसे योगी एकाग्र साधना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करता है वैसे ही भारतीय कलाकार अपनी सुन्दर कृतियों द्वारा कल्याणकारी तत्व की सुन्दर रूप में उपासना करता है। उसकी कलाकृति अन्तःकरण से उत्पन्न होती है जिसे वह उसी श्रद्धा से मूर्त रूप देता है, जिस श्रद्धा से धार्मिक पूजा या उपासना की जाती है। भारतीय कलाकार की कृपा से ही हम ध्यानी बुद्ध, योगीश्वर शिव, विश्वाधिष्ठाता महाविष्णु के अमर रूपों को देख पाते हैं। ये उस अखंड ध्यान या समाधि के प्रतीक हैं जो भारतीय दर्शन का सर्वोच्च आदर्श है। भारतीय संस्कृति में तप और ध्यान के बिना कुछ भी

महत्वपूर्ण नहीं बन पाता। भारतीय कला के बिना भारतीय संस्कृति का चित्र अधूरा रह जाता है।

सिंधु सभ्यता—सिंधु नदी और पंजाब के प्रदेश में जो प्राचीन सभ्यता पहले-पहल फूली फली थी उसी में हमें उन्नतकला के दर्शन होते हैं। इस सभ्यता के केन्द्र मोहेंजोदड़ो (सिन्ध) और हरप्पा (पंजाब) हैं। यहाँ पर विशाल नगरों के अवशेष मिले हैं। मोहेंजोदड़ो का प्राचीन नगर संसार के अन्य सब समकालीन नगरों में बड़ा है। वह विकसित योजना के अनुसार बसा है। चौड़ी-सीधी सड़कें, ढँकी हुई नालियाँ, पक्की ईंटों से बने विशाल भवन, कुएँ और स्नानागार इस स्थान की विशेषताएँ हैं। ये दोनों शहर दुर्ग के रूप में बने थे। हरप्पा में प्राचीन किले का परकोटा मिल गया है। नगर में ही अनाज रखने के विशाल बखार अपने ढंग के एक ही हैं। मोहेंजोदड़ो के स्नानागार में सुरुचिपूर्ण स्नान के लिये जल और अलग अलग कमरों की सुविधा का प्रबन्ध किया गया था। विशाल जलकुंड निर्माण कला का उत्तम उदाहरण है।

सिंधु सभ्यता में पत्थर, काँसे और मिट्टी, तीनों तरह की सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं। मोहेंजोदड़ो से प्राप्त एक मानवमूर्ति शाल ओढ़े बनाई गई है। काँसे की ढली हुई एक नर्तकी की मूर्ति मिली है। मुख के भावों और नृत्यमुद्रा के लिये साधे हुए शरीर के अंग-प्रत्यंग को दिखाने में कलाकार पूर्ण सफल हुआ है। हरप्पा से पुरुष की ऐसी एक छोटी मूर्ति मिली है जो किसी श्रेष्ठ यूनानी मूर्ति

से कम नहीं है। इस मूर्ति ने पाश्चात्य विद्वानों को भी अचम्भे में डाल दिया। सिंधु सभ्यता में लगभग एक सहस्त्र मोहरें मिली हैं जिन पर पशुओं के चित्र बने हैं और अज्ञात लिपि में कुछ लिखा है। एक वृषभांकित मोहर पर कूबड़ वाला तगड़ा वृषभ कलात्मक रूप में अंकित है।

कुछ मिट्टी के खिलौने भी मिले हैं जिनमें मनुष्य, पशु और पक्षियों की सुन्दर प्रतिकृति है। कुम्हार की कला के सबसे सुन्दर उदाहरण वहाँ से मिले हुए मिट्टी के बरतन हैं। ये कुम्हार के चाक पर बने हैं और उनपर सुन्दर चित्रकारी व सजावट है।

मौर्ययुग—अभी तक बीच के युग की कला के उदाहरण नहीं मिले हैं। मौर्ययुग में, विशेष रूप से अशोक के समय सुन्दर कला रचना हुई। मौर्य कला के दो भाग हैं, एक तो प्राचीन यक्षमूर्तियाँ, दूसरे राजकीय कला के नमूने जिसमें अशोक स्तंभ आदि हैं।

मौर्ययुग में जो विशालकाय यक्ष प्रतिमाएँ मिलती हैं, वे लोक-कला के नमूने हैं। मथुरा से लगाकर पूर्व में उड़ीसा तक और मालवा में बेसनगर तक बड़ी संख्या में ये मूर्तियाँ मिली हैं। ये चारों ओर से कोरकर बनाई गई हैं। ये महाकाय और भारी भरकम हैं जिन्हें देखने से मन पर उनके देवत्व की छाप पड़ती है। भारत में लोकधर्म के रूप में सर्वत्र यक्षों की पूजा प्रचलित थी। उन्हीं की ये मूर्तियाँ हैं।

पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त के महलों की ग्रीकराजदूत मेगास्थेने ने बड़ी प्रशंसा की है । उसका कहना है कि इन महलों के आगे ईरान के शूषा और एकबटाना के प्रासादों की शोभा भी फीकी पड़ जाती है। संसार में इनका जोड़ कहीं पर नहीं था। पटना में खुदाई करते हुए चन्द्रगुप्त की राजसभा के अवशेष मिले हैं, जिसमें पत्थर के अस्सी ऊँचे खम्भे थे जिनपर शीशे की तरह चमकती हुई पालिश है ।

अशोक ने बौद्धतीर्थों और कुछ महत्वपूर्ण स्थलों पर पत्थर के विशालकाय स्तंभ खड़े कराये थे। इन खम्भों के शीर्षक (अं० कैपिटल) हाथी, सिंह और वृषभ की मूर्तियाँ हैं । सारनाथ का चार सिंहोंवाला शीर्षक भारतीय कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। चार केसरीसिंह चार दिशाओं में मुँह किए हुए पीठ सटाकर उकड़ूँ बैठाए गए हैं। स्तंभ के गोल घेरे पर वृषभ, सिंह, घोड़ा और हाथी चार पशुमूर्तियाँ और धर्मचक्र बने हैं। रामपुरवा (बिहार) में स्तंभ शीर्ष का वृषभ भी कलापूर्ण है। शरीर के उतार-चढ़ाव, दृढ़ बनावट और सौम्य आकृति बनाने में मौर्य कलाकार अपना सानी नहीं रखता। पचास फुट तक स्तंभ एक ही पत्थर को काटकर बनाए गए थे। वे इतने सुन्दर बने हैं मानो खराद पर फिराए गए हैं।

अशोक ने भिक्षुओं के लिये गया के पास बराबर पहाड़ी में कुछ गुफाएँ बनवाई थीं। इनमें लोमशऋषि गुफा का द्वार सफाई और सुन्दरता के साथ बनाया गया है। गुफाओं की दीवारों पर शीशे के समान पॉलिश है।

मौर्य कला की विशेषता साफ सुथरी बनावट और ओप (पॉलिश) है। बलुए पत्थर पर शीशे के समान चमक का उदाहरण मौर्य कला को छोड़कर और कहीं भी नहीं मिला है। पीले धूसर रंग के चमकदार खंभों को कुछ विदेशी यात्रियों ने हकीक के बने समझ लिया था। तेईस सौ वर्ष बीतने पर भी इस पॉलिश की चमक ज्यों की त्यों है।

शुंगयुग—(ई० पू० २ री व १ली शती)—शुंगकला में भारहुत (विंध्यप्रदेश) और साँची (भोपाल) के विशाल बौद्धस्तूप मुख्य हैं। भारहुत में स्तूप के चारों ओर पत्थर के खंभों की वेदिका या चार दिवारी थी जिसके चार ओर चार तोरण बनाए गए थे। उन खम्भों पर धर्म संबंधी कथाएँ, यक्षनागों की मूर्तियाँ और सुन्दर फूल पत्तियों की सजावट है। कुछ यक्षी मूर्तियाँ तो श्रेष्ठ कला के सुन्दर उदाहरण हैं। साँची में स्तूप और वेदिका दोनों सादे हैं पर तोरण अद्भुत शिल्प से सजे हैं। यहाँ भी धर्मसंबन्धी कथाएँ, यक्ष नागमूर्तियाँ और पशु-पक्षी तथा फूलपत्ती के सुन्दर अलंकरण हैं। साँची के तोरण अपनी सुन्दरता के लिए संसार प्रसिद्ध हैं। ये इतने सुन्दर मालूम होते हैं मानों हाथी दाँत में कारीगरी की गई हो। साँची की मानव मूर्तियों में स्वाभाविक रचना सौन्दर्य है।

मोर, हाथी और वृषभ की आकृतियाँ इतनी सुन्दर हैं कि भारतीय कला में भी वैसे उदाहरण कम हैं। साँची वस्तुतः भारतीय कला का गौरव स्थल है।

कुषाण काल—ईसवी पहली शताब्दी से भारतीय कला की देश-व्यापी उन्नति हुई। कुषाण-कालीन कला के तीन केन्द्र थे, मथुरा, गान्धार और अमरावती (आन्ध्र प्रदेश)। मथुरा भारत की राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना का वैसा केन्द्र था जैसा यूनान में एथेन्स नगर रहा है। मथुरा में बौद्धों और जैनों के स्तूप बने। इनकी वेदिका और तोरण पर भारहुत के समान ही धर्मकथाएँ, मानवमूर्त्तियाँ, पशुपक्षी और भाँति भाँति के अलंकरण थे। मथुरा-कला में पहली बार बुद्ध और बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ बननी शुरू हुईं। जैनों ने भी अपने तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ बनाईं। ये मूर्त्तियाँ यक्षों की भारीभरकम मूर्त्तियों की शैली पर निर्मित हुईं। इस समय मन्दिर भी बनने लगे। इसी केन्द्र में भागवत धर्म के प्रभाव से ब्राह्मण धर्म के देवी देवताओं की मूर्तियाँ भी बनाई गईं। कुषाणों के राज्य में मथुरा सारे उत्तर भारत का कलातीर्थ बन गया। वहाँ की मूर्त्तियाँ सारनाथ, कसिया, साँची, लुम्बिनी तक मिली हैं। मथुरा में कुषाण राजाओं का एक देवकुल स्थापित किया गया जहाँ से वेमकदफ, कनिष्क और चष्टन की मूर्त्तियाँ मिली हैं।

गान्धार—कुषाण सम्राटों ने पुरुषपुर में अपनी राजधानी बनाई थी। भारत के इस पश्चिमोत्तर प्रदेश में यूनानी पहले ही बस चुके थे। साथ ही उस काल के रोम साम्राज्य से भी कुषाणों का अच्छा सम्बन्ध था। भारतीय और विदेशी प्रवृत्तियों के मिश्रण से एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे गान्धारकला कहते हैं।

गान्धारकला में भारतीय मूर्त्ति के रूप यूनानी और रोमदेशीय शैली से मिलकर निर्मित हुए। बुद्ध की मूर्त्ति ऐसी बनी जैसे अपोलो की मूर्ति हो। यवन शैली पर ज़ीयस की आकृति में कुबेर, कुबेर और हारीती की मूर्त्ति बनीं। बुद्ध की मूर्त्ति का निर्माण जैसे मथुरा में हो रहा था गान्धार में भी हुआ। बुद्ध की हजारों मूर्त्तियाँ बनाई गईं। गान्धारकला में तप करती हुई बुद्ध की मूर्त्ति उसकी विशेषता है। मूर्त्तियों के विषयों और अलंकरण में भी विदेशी अभिप्रायों का मिश्रण है। गान्धार में स्तूप भी बने। कनिष्क ने एक विशाल स्तूप बनवाया जिसकी फाह्यान ने बड़ी प्रशंसा की है। गान्धार के स्तूपों में वेदिका और तोरण नहीं होते थे। स्तूप की आकृति भी कुछ लम्बोतरी अण्डाकार बनती थी।

गान्धारकला के पहले उत्थान (प्रथम से तृतीय शती ई०) में सलेटी पत्थर में काम होता था। उसके बाद छठी शती तक गच (अँगरेजी स्टक्को) की मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगीं। गचकारी की मूर्त्तियों का प्रचार इधर भारतवर्ष में और उधर मध्य एशिया व तुर्किस्तान तक हुआ।

अमरावती—कृष्णा-गोदावरी के मुहानों के बीच में कई विशाल स्तूपों का निर्माण हुआ। इनमें मुख्य अमरावती और नागार्जुनी कोण्डा के स्तूप हैं। इस कला में निर्माण कार्य तो ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से प्रारंभ हो गया था पर सबसे महत्त्व की सामग्री पहली से तीसरी ईस्वी तक की है।

संगमर्मर या चूने के पत्थर पर ऐसी साफ नक्काशी है मानों मक्खन में ढाल दी गई हो। स्तूप के शिलापट्ट, वेदिका, स्तम्भ और तोरणों पर बहुत ही प्राणवन्त या गतियुक्त कारीगरी की गई है।

बुद्ध मूर्त्ति बनाने में इन लोगों को इतनी सफलता नहीं मिली जितनी मथुरावालों को। पर पुरुष और विशेषतः स्त्रियों की मूर्त्तियों के निर्माण में बहुत सफलता मिली है। लम्बे छरहरे शरीर, सुन्दर अंग विन्यास, केशों की सजावट और अलंकार अमरावती शिल्प की विशेषता है।

पहाड़ में खोदे गए चैत्य व मन्दिर—अशोक ने बिहार में कुछ गुफाएँ भिक्षुओं के लिए बनवाई थीं। यह वास्तुशिल्प आगे खूब विकसित हुआ। पश्चिमी भारत में लगभग बारह सौ गुफा मंदिर व चैत्य पहाड़ में काट कर बनाए गए। इनमें नौ सौ बम्बई प्रांतों में ही हैं। काठियावाड़ से लेकर बम्बई-अजन्ता तक इनका विस्तार है। इनमें भाजा, कार्ला और अजन्ता के विहार अत्यन्त भव्य हैं।

गुप्तकाल—गुप्तकाल में भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के समान कला में भी सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। भारतीय कला का सुन्दरतम रूप इसी युग में मिलता है जिसमें बाह्य सुन्दरता के साथ आध्यात्मिक शान्ति का सम्मिलन है।

गुप्तयुग में देवमंदिरों के निर्माण में विशेष प्रगति हुई। गर्भ-

गृह, मंडप और शिखर से युक्त मंदिरों की एक नवीन शैली विकसित हुई जो बहुत प्रिय हुई। देवगढ़ का दशावतार मंदिर और भुमरा का शिवमंदिर गुप्त मन्दिरों के उत्तम उदाहरण हैं। देवगढ़ का वैष्णव मन्दिर वास्तु कला का रत्न माना जाता है। इसका अलंकृत द्वार सुन्दरता और अलंकार विधान में बेजोड़ है। इस मंदिर में नर-नारायण, शेषशायी विष्णु और गजेन्द्र-मोक्ष की मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर हैं। गुप्तकला के दो प्रधानकेन्द्र थे सारनाथ और मथुरा। सारनाथ में प्राप्त बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्त्तन की मुद्रा में बैठी हुई मूर्ति भारतीय मूर्ति कला का श्रेष्ठ उदाहरण है। मथुरा में बनी हुई बुद्ध मूर्तियों का अपना सौन्दर्य है।

उनकी मुखमुद्रा पर योगी की मन्द हंसी के साथ आन्तरिक शान्ति का प्रदर्शन है। मथुरा में ब्राह्मण धर्म की मूर्तियों में खड़े हुए विष्णु एक सुन्दर कृति है। मूर्तिकला में देवी-देवताओं की मूर्तियाँ और सुन्दर अलंकरण हैं। सारनाथ के धमेक स्तूप पर फूलपत्ती के अलंकरण और सजावट से पर्याप्त जगह घेरी गई है। उतना सुन्दर अलंकरण अन्यत्र नहीं मिलता।

गुप्तकाल में मिट्टी की सुन्दर मूर्तियाँ बनाने का भी रिवाज था। राजघाट (बनारस), कौशाम्बी (इलाहाबाद जिला), अहिच्छत्रा (बरेली जिला) आदि स्थानों से अत्यन्त कलापूर्ण मूर्तियाँ व खिलौने मिले हैं।

गुप्तकाल में जैसी उन्नति चित्रकला की हुई वैसी अन्य कलाओं की नहीं। अजन्ता की २६ गुफाएँ चित्रकला का तीर्थ है। गुफाओं में प्रवेश द्वार, महामण्डप, भित्तिस्तंभ, छत्र आदि चित्र और शिल्प से भरे पड़े हैं। अजन्ता में हाथ में कमल लिए बोधिसत्व (पहली गुफा) का चित्र संसार की चित्रकला का अनुपम उदाहरण है। भारतवर्ष में बाघ (मध्यभारत) और सित्तनवासल (मद्रास) के भित्तिचित्र भी अजन्ता की शैली पर हैं। अजन्ता कलाकारों का तीर्थ था। यहाँ से प्रेरणा लेकर एक ओर लंका में सिंहगिरि (सिगिरिया) तक और दूसरी ओर मध्यएशिया में तुनहुआँग के सहस्र-बुद्ध गुफामंदिर तक चित्र बनाए गए। अजन्ता ने बृहत्तर भारत और एशिया की चित्रकला पर गहरा प्रभाव डाला।

अध्याय १४

प्राचीन भारत में शिक्षा

शिक्षा के विषय में प्राचीन भारतीयों का बहुत ऊँचा विचार था। अशिक्षित मनुष्य मृत के समान माना जाता था। उनकी दृष्टि में विद्या ही वह अमृत है जो व्यक्ति को सच्चा जीवन देता है।

शिक्षा से किसी भी राष्ट्र की नींव दृढ़ बनती है। भारतीय संस्कृति की और ज्ञान की उन्नति का अधिकांश श्रेय यहाँ की उस शिक्षा पद्धति को था जो कई सहस्र वर्षों से जनता के सहयोग और प्रोत्साहन से विद्वान आचार्यों द्वारा चलती रही।

शिक्षा के दो क्षेत्र हैं, शास्त्रीय ज्ञान और प्रयोग (थ्योरी और प्रैक्टिस)। वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन, धर्मशास्त्र, काव्य, नाटक, साहित्य शास्त्र, पुराण, विज्ञान इन सब शास्त्रों का मनन, अध्यापन और अध्ययन बहुत ही व्यापक रूप में देश के हरएक भाग में होता रहा। हरएक विद्वान अपने घर में जीती जागती शिक्षासंस्था बना हुआ था। शिष्य उसके पास बेरोकटोक आते और स्वाभाविक ढंग से विद्याभ्यास करते थे। आचार्य के लिए कृत्रिम नियमों के बन्धन

का पचड़ा न था। वही सब प्रकार से स्वतन्त्र और अपने क्षेत्र का सर्वोच्च केंद्र था। इसी कारण भारतवर्ष में इतने अधिक शास्त्रों का अध्ययन और विकास हुआ। प्रत्येक शास्त्र की गुरु-शिष्य परम्परा स्थापित कर दी जाती थी। इसीसे वह शास्त्र या ज्ञान चिरजीवी बना दिया जाता था। गुरु-शिष्य परम्परा में कभी-कभी बहुत मेधावी शिष्य भी उत्पन्न होते थे जो अपनी साधना से उस शास्त्र को गुरु से भी अधिक माँज देते थे।

दूसरी ओर संगीत, नाट्य, अभिनय, वाद्य, शिल्प-चित्र, वास्तु आदि सैकड़ों प्रकार के शिल्प और ललित कलाओं की शिक्षा का क्षेत्र था। इसमें भी सीखने वाले प्रसिद्ध शिल्पाचार्य को गुरु बनाकर जितने समय तक चाहते शिल्पकला सीखते थे। गुरु के साथ उनका पुत्रवत् सम्बन्ध होता था और वे गुरु के प्रयोगात्मक ज्ञान को आगे बढ़ाने में गौरव का अनुभव करते थे। शिक्षा के क्षेत्र में कोई राजकीय बन्धन न था। जनता और राजा मुक्तहस्त होकर गुरुओं और विद्वानों के पोषण की व्यवस्था करते और फिर उन्हें अपना कार्य करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते थे। शिक्षा के क्षेत्र में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा रहती थी। शिक्षा का उद्देश्य राजसेवा कभी न था। उसका उद्देश्य शास्त्रज्ञान और प्रयोगात्मक शिल्पों में निपुणता प्राप्त करना था। भारतीय शिल्पी और विद्वान दोनों के लिए शिक्षित हो जाने पर समाज में आर्थिक प्रबन्ध होता था और वे अपने-अपने धन्धों में लग जाते थे। शिक्षा का सम्बन्ध वास्तविक जीवन से था। शिक्षित

व्यक्ति अपने आपको समाज के लिए उपयोगी बनाता था। इसलिए उसका सच्चा सम्मान था।

वैदिककाल—प्रारम्भिक वैदिक युग में छन्द या वेद का अध्ययन मुख्य विषय था। वैदिक युग का आदर्श विद्वान् ऋषि कहा जाता था। प्राचीन परिभाषा के अनुसार ऋषि वह है जो ज्ञान का साक्षात् करे। (ऋषिदर्शनात्) ऋषियों ने धर्म या सृष्टि के अखण्ड नियमों का अनुभव किया था। (साक्षात्कृत धर्माणः ऋषयः बभूवुः)।

उत्तर वैदिककाल—इस युग की प्रधान शिक्षासंस्था 'चरण' कहलाती थी। चरण में विद्यार्थी अपने आचार्य के पास रहकर वेदों और अन्य विद्याओं का अध्ययन करते थे। चरण को आचार्यकुल या गुरुकुल भी कहते हैं।

शिक्षक—चरण या गुरुकुल में सर्वोच्च पद आचार्य का होता था। आचार्य को केंद्र मानकर ही चरण का संगठन होता था। आचार्य ही विद्यार्थी का उपनयन कराता और उसे ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा देता था।

दूसरा स्थान 'प्रवक्ता' का होता था। प्रवक्ता विद्यार्थियों को वेद आदि विद्याओं पर भाषण देते थे। इनके बाद 'अध्यापक' होते थे जो फुटकर लौकिक ग्रन्थों को पढ़ाते थे। आगे चलकर इनको 'उपाध्याय' कहा जाने लगा। एक प्रकार के गुरु 'श्रोत्रिय' होते थे। इन्हें स्वयं वेद कण्ठ रहते थे और ये लोग छात्रों को सस्वर वेद पाठ की शिक्षा देते थे।

विद्यार्थी—उपनयन से पहले छोटी आयु के विद्यार्थी माणवक या दण्डमाणव कहलाते थे। ये लोग आरंभिक शिक्षा प्राप्त करते थे।

उपनयन के बाद विद्यार्थी को 'अन्तेवासी' कहा जाता था। ये लोग आचार्य के साथ ही निवास करते थे और विभिन्न विद्याओं का अध्ययन करते थे। उद्दालक आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्ष तक आचार्य के यहाँ अन्तेवासी होकर रहा और उसने सब विद्याएँ पढ़ीं।

चरक—तीसरी कोटि के विद्यार्थी 'चरक' कहलाते थे। ये लोग आचार्य के पास शिक्षा पूरी करके और स्नातक बनकर ज्ञानोपार्जन के लिए आगे विचरण करते थे। इसीसे इन्हें 'चरक' (वान्डरिंग स्कालर्स) कहा जाता था। इनका मुख्य ध्येय देश-दर्शन था जिसे 'जनपद-परीक्षा' कहा जाता था। इस स्थिति में ये लोग घूमकर लोगों के आचार, व्यवहार और रहन-सहन का अध्ययन करते थे और संसार को अपनी आँखों से देखकर समझने का प्रयत्न करते थे। अपनी यात्रा में ये लोग देश के विद्वानों और आचार्यों से भी परिचय प्राप्त करते थे और उनके सम्पर्क में आकर अपनी विद्या को माँजते थे।

विषय—जो विद्याएँ पढ़ी-पढ़ाई जाती थीं उनके नाम ये थे—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास पुराण, ब्राह्मण, उपनिषद्, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष, यज्ञीय कर्मकाण्ड (कल्प ग्रन्थ), धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, ब्रह्मविद्या, देवविद्या, क्षत्रविद्या, नाट्यसूत्र आदि।

विद्या परिषद्—इस युग की एक प्रधान शिक्षा संस्था 'परिषद' थी। इन परिषदों (एकेडेमी) के अधिवेशन होते थे जिनमें दूर दूर से विद्वान और ब्रह्मज्ञानी आते थे और विचार-विनिमय करते थे। राजा लोग विशेष रूप से परिषदों को संयोजित करते थे। कुरु पाञ्चाल जनपद के विद्वानों की परिषद और जनक की परिषद् प्रसिद्ध थीं।

महाजनपदयुग—उत्तर वैदिक काल (१०वीं शती से ५वीं शती ई० पू०) के उत्तरार्ध को महाजनपद युग भी कहा जाता है। आर्यावर्त में कई महाजनपद थे। बौद्धग्रन्थों में सोलह महाजनपद गिनाए गए हैं। महाभारत में भी जनपदों के विकास का विशद वर्णन है। पाणिनि (ई० पू० ५वीं शती) ने भी अनेक जनपदों के नाम दिए हैं।

इस युग में और भी बहुत से नए नए अध्ययन के विषय बने। इनमें काव्य, साहित्य, नाटक, उपाख्यान, व्याख्याग्रन्थ आदि नए शास्त्रों का क्रमिक विकास हुआ। शिल्प सम्बन्धी शिक्षा भी दी जाने लगी। विद्याध्ययन और ज्ञान की नई धाराएँ सामने आईं। दर्शन और तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में नए दृष्टिकोणों का सूत्रपात हुआ।

विश्वविद्यालय—पहले आचार्यगण वनों में अपने आश्रम बनाकर रहते थे। विद्यार्थी उनके पास रहकर विद्याध्ययन करते थे। जनपदयुग में नये-नये विषय अध्ययन में बढ़े और बहुत से प्रमाणभूत आचार्यों का उदय हुआ। किसी समय ऋषियों के चरण (गुरुकुल)

अरण्यों में होते थे। राजा और धनी वर्ग इन चरणों को धन भी देते थे। महाजनपदयुग में राजधानियों में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए। इन विश्वविद्यालयों में बहुत से आचार्य एक नगर में रहते और अपनी अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार विभिन्न विषयों को पढ़ाते थे। पश्चिमोत्तर भारत में तक्षशिला और पूर्व देश में काशी, इस प्रकार के बहुत बड़े शिक्षाकेन्द्र थे।

तक्षशिला विश्वविद्यालय—महाजनपद युग में पूर्वी गन्धार की राजधानी तक्षशिला के विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा सबसे अधिक थी। सारे उत्तर भारत और दूर दूर विदेशों से भी विद्यार्थी वहाँ पढ़ने आते थे। तक्षशिला में व्याकरण, दर्शन, वेद, न्याय, आयुर्वेद, धनुर्वेद, शिल्प इत्यादि सभी विषयों की उच्चशिक्षा का प्रबन्ध था। भारत के सर्वश्रेष्ठ व्याकरणाचार्य भगवान पाणिनि भी तक्षशिला के छात्र व आचार्य थे। अर्थशास्त्र के लेखक और मौर्य-साम्राज्य के संस्थापक चाणक्य भी तक्षशिला से सम्बन्धित थे। आयुर्वेद की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबन्ध तक्षशिला में था। बुद्ध के समकालीन मगधराज बिम्बिसार के राजवैद्य जीवक ने तक्षशिला में ही उच्च शिक्षा पाई। जीवक बुद्ध के भी चिकित्सक थे और अपने युग के सर्वश्रेष्ठ वैद्य माने जाते थे। बच्चों की चिकित्सा (कौमारभृत्य) में वे सिद्धहस्त थे। धनुर्वेद की शिक्षा का भी वहाँ उत्तम प्रबन्ध था। बुद्ध के समय का सर्वोत्तम धनुर्धर और कोशल का सेनापति बंधुल मल्ल और लिच्छवि सेनानायक महालि और सिंह यहीं के स्नातक

थे। तक्षशिला प्राचीन भारत का विद्यातीर्थ था। इस विश्वविद्यालय की परम्परा गुप्तों के समय तक चलती रही। छठी शताब्दी में हूणों ने इसे नष्ट भ्रष्ट कर डाला।

शिक्षा के विषय—इस युग में वेद और वैदिक साहित्य के साथ बहुत सी नई विद्याएँ शिक्षा के विषय थीं। पाणिनि (ई० पू० ५ वी शती) ने इनकी इस प्रकार सूची दी है—धर्मशास्त्र, गृह्यसूत्र, काव्य, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, नाट्यशास्त्र, आख्यायिकाएँ, व्याख्यान (व्याख्या साहित्य), न्याय, मीमांसा, इतिहास, शिल्प, संगीत, आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि।

संगम या संघ—जिस समय उत्तर भारत में इन विश्वविद्यालयों का समृद्धि काल था, उसी समय दक्षिण भारत में संगम नामक शिक्षा संस्थाएँ थीं। प्रसिद्ध कवि, विद्वान् और विचारक संगम के सदस्य होते थे। तमिल भाषा की सर्वोत्तम रचनाएँ इन्हीं संगमों में हुईं। पाण्ड्य राजाओं के संरक्षण में तीन संगम प्रसिद्ध हैं जिनमें पहले का समय ई० पू० छठी शती के लगभग माना जाता है। पहले दो संगमों के ग्रंथ अब नहीं मिलते। तीसरा संगम मदुरा में ई० पू० पहली शताब्दी से दूसरी शती ईसवी तक था। इस संगम की रचनाएँ व विद्वानों का इतिहास मिलता है। तमिल भाषा के पाणिनि तोलकाप्पियर ने अपना व्याकरण तोलकाप्पियम् इसी समय में लिखा। तमिल की सर्वश्रेष्ठ रचना 'तिरुक्कुरल्' महाकवितिरुवल्लुवर ने इसी समय लिखी। यह ग्रंथ विश्वसाहित्य का अनुपम रत्न माना जाता है। विभिन्न भाषाओं में

इसके सैकड़ों अनुवाद हुए हैं। इस ग्रन्थ में धर्म-अर्थ और काम तीनों शास्त्रों का सम्पूर्ण सार भरा हुआ है। शिलप्पाधिकारम् और मणिमेखलै तमिल के महाकाव्य हैं। इनकी रचना भी इसी युग में हुई। कविता की दृष्टि से भी इनका स्थान बहुत ऊँचा है। तमिल भाषा की सर्व श्रेष्ठ कवियित्री ओवैयार भी इसी समय हुई थी। संगमों में विद्वान् एकत्र होते, नई नई रचनाएँ पढ़ी जातीं और गुण दोषों पर विचार विनिमय होता था। विद्वानों और कवियों की परीक्षाएँ भी होती थीं। राज सभा में विशिष्ट व्यक्तियों का सम्मान होता था और अच्छी रचनाएँ पुरस्कृत होती थीं।

कुषाण काल—कुषाण सम्राट् विदेशी होने पर भी शीघ्र ही भारतीय जीवन में घुलमिल गए। कनिष्क विद्याप्रेमी और कवियों का आश्रयदाता था। उसकी सभा में वसुबन्धु, अश्वघोष, चरक आदि विचारक, कवि और चिकित्सक थे। उसने पुरुषपुर (पेशावर) को एक अच्छा शिक्षा केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। उत्तर भारत में इस समय प्रधान शिक्षाकेन्द्र तक्षशिला, पुरुषपुर, मथुरा, उज्जयिनो काशी, और साकेत (अयोध्या) थे।

गुप्त काल—गुप्त राजाओं के आश्रय में शिक्षा की बहुत उन्नति हुई। इस समय के सभी प्रधान नगरों में विशाल शिक्षा संस्थाएँ थीं। कुमार गुप्त (पाँचवीं शती का आरंभ) ने नालन्दा विश्वविद्यालय की स्थापना की। नालन्दा हर्ष के समय तक एशिया में सबसे बड़ा केन्द्र हो गया था। नालन्दा बौद्धों का केन्द्र था पर वहाँ सभी धर्मों और

लौकिक जीवन की सभी विद्याओं का शिक्षण होता था। सुदूरकोरिया, जापान, चीन, मध्यएशिया, पूर्वी द्वीपसमूह और भारत के सब भागों के विद्यार्थी नालन्दा में पढ़ने आते थे।

नालन्दा—प्रसिद्ध चीनी यात्री युवान च्वाङ् हर्ष के समय आया। उसने नालन्दा में रहकर आठ वर्ष बौद्ध दर्शन, साहित्य और संस्कृत का अध्ययन किया। उसने लिखा है कि नालन्दा में प्रवेश पाना टेढा काम था। द्वारपंडित विद्यार्थियों की योग्यता की कठिन परीक्षा लेते थे। दस में से दो तीन ही भर्ती होने में सफल हो पाते थे। विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा का ही प्रबन्ध था। विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी और निवास, वस्त्र और भोजन का प्रबन्ध विश्वविद्यालय से ही होता था। चीनी यात्री के समय दस सहस्र विद्यार्थी वहाँ थे और पन्द्रह सौ विद्वान् अध्यापन का कार्य करते थे। विश्वविद्यालय का व्यय राजाओं और धनियों के दान से चलता था। स्थायी रूप से दो सौ गाँवों की आय से विश्वविद्यालय का सब प्रबन्ध होता था।

इत्सिङ् नामक एक और चीनी यात्री सातवीं शती के अन्त में भारत आया। उसने भी नालंदा में अध्ययन किया और अपने यात्रा विवरण में नालंदा के भव्य भवनों और विशाल विहारों का सुन्दर वर्णन किया है। इस समय नालंदा का पुस्तकालय रत्नोदधि, रत्नसागर और रत्नरंजक नामक तीन विशाल भवनों में था।

नालंदा की इतनी प्रतिष्ठा थी कि वहाँ के छात्र और स्नातक

शिक्षित समाज में बहुत सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। वहाँ के आचार्य और अध्यापक राजाओं से भी पूजित होते थे।

मध्यकाल—उसी युग में नालंदा के साथ विक्रमशिला और उदंतपुरी के दो शिक्षा संस्थान पाल राजाओं ने स्थापित किए। विक्रमशाला का दसवीं शती में इतना महत्व बढ़ गया कि विक्रमशिला का प्रधान आचार्य नालंदा का भी अध्यक्ष होने लगा।

भारत की इन महान शिक्षा संस्थाओं के साथ विद्यालय भी बनाए जाते थे। भोज का बनवाया धारा नगरी का सरस्वती विद्यालय और बीसलदेव का अजमेर का विद्यालय प्रसिद्ध हैं। अजमेर में इस विद्यालय को तोड़कर अढ़ाई दिन का झोंपड़ा नामक मस्जिद बन गई।

राज्याश्रय में और स्वतंत्र विद्या केन्द्र भी थे। उत्तर भारत में मिथिला, नवद्वीप, काशी, कन्नौज, उज्जयिनी और दक्षिण में कांची, मदुरा, तंजोर इस युग में प्रतिष्ठित विद्या केन्द्र थे। मुसलमानी राज्य के समय में भी इन केन्द्रों में संस्कृत शिक्षा और भारतीय ज्ञान की परम्परा जीवित बनी रही। इनमें से प्रत्येक नगर एक विश्वविद्यालय था। यहाँ यह क्रम था कि सब गुरु और छात्र किसी एक स्थान पर एकत्र हों तभी पढ़ाई का कार्य हो। प्रत्येक गुरु अपने घर पर ही रहकर पढ़ाता था। वही उस विद्यालय का प्रधान व्यवस्थापक और आचार्य होता था। वही स्वयं विद्यालय था। इस प्रकार प्रत्येक विद्वान् एक-एक विद्यालय बना हुआ था। अकेले काशी में दस सहस्र छात्र अपने अपने गुरुओं से पढ़ते थे। गुरुओं का चुनाव करने में छात्र स्वतंत्र

थे। जो जितना ठोस विद्वान् और अच्छा अध्यापक होता उसके पास उतने ही अधिक छात्र पहुँच जाते थे। छात्र अत्यन्त विनीत भाव से गुरुओं के यहाँ जाते थे। गुरु के साथ उनका सच्चा सम्बन्ध जीवन भर के लिए बन जाता था। प्रत्येक गुरु के घर में इतना स्थान न था कि सब छात्र वहाँ रह सकते। इसलिए एक प्रथा यह चली कि प्रत्येक विद्याकेन्द्र में छात्रों के रहने के लिए मठ नामक संस्थाएँ खोल दी गईं। वहीं छात्र रहने और गुरु के यहाँ पढ़ने आते थे। मठों का संबंध बहुधा धार्मिक देवमंदिरों से होता था और वहाँ छात्रों के भोजनादि के लिए सत्र या सदाबर्त का प्रबन्ध भी होता था। क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि गौड़ देश और काशी तक के छात्र अध्ययन के लिए काश्मीर तक जाते थे।

भारतीय शिक्षा की उन्नति के कई मुख्य कारण थे। सारा समाज गुरुओं का सम्मान करता था। उन्हें धन चाहे कम मिलता किन्तु प्रतिष्ठा सबसे अधिक दी जाती थी। दूसरा कारण गुरु या शिक्षकों की स्वतन्त्रता थी। वे रातदिन पूरे उत्साह से पढ़ने पढ़ाने और ग्रन्थ निर्माण का कार्य करते थे। यही उनके जीवन का ध्येय था। छात्रों को भी विद्याध्ययन करते समय सब प्रकार की सुविधा दी जाती थी। उनके भरण पोषण का पूरा प्रबन्ध हर एक स्थान में रहता था।

अध्याय १५

भारतीय संस्कृति की विशेषताएँ

भारतवर्ष सुसंस्कृत और महान् देश है। राष्ट्रों के जीवन में वृद्धि और ह्रास या उतार चढ़ाव चलते रहते हैं। पर उनकी सबसे महत्वपूर्ण वस्तु वह जीवनी शक्ति है जो सब समय अटूट रह कर राष्ट्रको जीवित रखती है। यही शक्ति संस्कृति है। संसार में सभ्यताएँ जनमीं, संस्कृति का निर्माण हुआ और काल के सबल हाथों में पड़कर समाप्त हो गईं। केवल भारतीय संस्कृति की ही धारा इन सब परिस्थितियों में अक्षुण्ण बनी रही। आज भी वह जीती जागती वस्तु है, बीते हुए इतिहास या पुरातत्व की जड़ वस्तु नहीं बन गई है। उसकी प्राणवन्त विशेषताओं ने उसे चिरजीवन प्रदान किया है। बाह्य उपकरण बदल जाएँ, राज्य का रूप चाहे कुछ हो, पर भारतीय मानस की जीवन भावना नष्ट नहीं हो सकी है।

यह संस्कृति क्या वस्तु है ? संक्षेप में संस्कृति उन संस्थाओं और तत्त्वों का नाम है जिनका निर्माण राष्ट्र ने किया। धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, समाज, आर्थिक जीवन की संस्थाएँ, चित्र, शिल्प, वास्तु, संगीत, नाटक, अभिनय, शिष्टाचार, शिक्षाव्यवस्था, परिवार-संस्था, आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव, भाषा, लिपि, अलंकरण, वेशभूषा, गृहनिर्माण, ग्राम और नगर जीवन, जितनी भी संस्थाएँ या जीवन के रूप हैं, जिनका निर्माण भारतीय जाति ने किया, उन सब रूपों के समुदाय का नाम भारतीय संस्कृति है। यह संस्कृति भूतकाल में जन्म लेकर कालक्रम से हम तक आ पहुँची है। इसका कुछ अंश जीर्ण या समय के लिए विगत रस हो जाता है, कुछ उसमें नया जुड़ जाता है और अधिकांश पहले का ही आगे बढ़ता रहता है। यही प्रत्येक संस्कृति के प्रवाह का क्रम है। संस्कृति मनुष्य की सच्ची धात्री माता है। संस्कृति से ही मानव अपना जीवन ग्रहण करता है।

भारतीय संस्कृति पर विचार करते हुए पहले तीन ऐतिहासिक प्रश्न सामने आते हैं—भारत वर्ष में अनेक भेद हैं, भारत संसार से पृथक् है और देश में राज-सत्ता ने व्यक्ति को पनपने नहीं दिया है। इन तीनों महत्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर भारतीय संस्कृति की दृष्टि से समझ लेना चाहिए।

यह सच है कि भारतवर्ष में अनेक प्रकार की विविधता है। पर यहाँ गहरी सांस्कृतिक एकता भी है। इस देश में आर्य, द्रविड़, किरात, निषाद और शबर संस्कृतियों का संगम हुआ। सब के विश्वास, देवी देवता, पूजापद्धति अलग अलग थीं। पर यहाँ के राष्ट्र नियामकों ने

किसी को खपा नहीं डाला। सबको साथ लेकर और सबके भावों को सम्मान देकर मूलभूत एक साँचे में ढाल दिया। विदेशी आक्रामक अपनी विशेषताएँ लेकर आए पर इसी रंग में रंग गए। विभेद हैं, अलगाव हैं, भिन्न-भिन्न मत हैं, जातियाँ हैं पर सबके ऊपर उनको एक सूत्र में बाँधने वाली युक्ति भी है। माला में तरह तरह के पुष्प और रत्न रह सकते हैं यदि उन्हें एक में पिरोने वाला सूत्र हो। इस अन्तर्यामी सूत्र का कार्य इस देश में संस्कृति ने किया है।

दूसरा प्रश्न भी सच है। भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाएँ सुनिश्चित हैं। एक ओर हिमालय की लम्बी पर्वतमाला उसे एशिया से अलग करती है दूसरी ओर अगाध समुद्र सीमा बनाता है। पर इनके होते हुए भारतीय अपने देश में बंद नहीं बैठे रहे। यह सत्य है कि भारतीय सेनाएँ पराए देश जीतने नहीं गईं। परन्तु धर्म और संस्कृति का प्रकाश लेकर भारतीय सब जगह जा पहुँचे। संसार का कोई भी सांस्कृतिक आन्दोलन ऐसा नहीं हुआ जिसके संपर्क में भारतीय न आए हों और जिनके साथ उनका आदान प्रदान न हुआ हो। बुद्धि और श्रद्धा पर आश्रित भारतीय संस्कृति ने किसको आकर्षित नहीं किया ?

तीसरा प्रश्न निरंकुश राज्य शक्ति और व्यक्ति स्वातंत्र्य से सम्बन्ध रखता है। अवश्य ही भारतवर्ष में राज सत्ता का बहुत विकास हुआ। यह भी सत्य है कि राजा निरंकुश भी होते थे। ऐसा होते हुए भी इस देश में स्वायत्त शासन की संस्थाएँ सदैव हर एक स्तर पर पनपती रहीं। ग्राम पंचायत, जाति-बिरादरी

का संगठन और पंचायत, व्यापारियों और सेठों के निगम या आर्थिक संस्थाएँ, कलाकारों और शिल्पियों की श्रेणियाँ और शिक्षासंस्थाएँ अपने कार्यों में स्वतंत्र होती थीं। वास्तविक कार्यसंचालक संस्थाओं के रूप में इनकी सदैव प्रतिष्ठा रही। इनमें सबसे महत्वपूर्ण ग्रामसंस्था थी जिसे विदेशी लेखकों ने छोटे प्रजातंत्र का रूप कहा है। अतएव केन्द्रीय राजशक्ति के सर्वाधिकार सम्पन्न होते हुए भी देश और समाज में हर एक स्तर पर लोग स्वायत्त शासन का उपभोग करते थे।

भारतीय संस्कृति की अन्य विशेषताओं पर भी ध्यान देना चाहिए। इस संस्कृति में इस लोक के जीवन और आत्मवाद या ब्रह्म-वाद दोनों को समान रूप से साथ लिया गया है। प्रायः ये दोनों एक दूसरे से दूर, या विरोधी समझे जाते हैं। परन्तु भारतीय संस्कृति के राज-योग में इन दोनों का समन्वय सुन्दर ढंग से हुआ है। राजर्षि जनक, अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि राजा थे, वे गृहस्थ में रहते थे और ब्रह्मज्ञानी थे। ऋषि भी उनके शिष्य बनते थे। संसार त्यागी मुंडित मस्तक भिक्षु ही ज्ञानी हो सकता है यह भारतीय संस्कृति को मान्य नहीं है। 'प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्ष धर्मः', यह यहाँ का अनुभव वाक्य था। मुख्य वस्तु मन है, वही बन्धन और मोक्ष का कारण है। उसी को ठीक करना चाहिए।

चार आश्रमों की पद्धति में सबके लिए भोग और त्याग की व्य-वस्था की गई है। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति सुखोपभोग करता है पर

समय आने पर पुराने वस्त्र की तरह उन सबको छोड़कर सन्यास ले लेता है। भोग प्रधान प्रवृत्ति और त्यागमय निवृत्ति इन दोनों का समन्वय मनुष्य के जीवन में होना चाहिए। संसारत्यागी भिक्षुओं का अनावश्यक दल बढ़ाकर सामाजिक सन्तुलन को बिगाड़ देना यह भारतीय संस्कृति को अभिमत नहीं है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चार पुरुषार्थों में मुक्ति और भुक्ति के संयुक्त भाव का आदर्श है। लोक में धर्म का पालन करके, अर्थ का संचय करके और सुखोपभोगों में रह कर भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यदि व्यक्ति अपने धर्म का पालन करता रहे तो फिर मोक्ष भी उसके लिए सुलभ और संभव है।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है प्रवृत्तिप्रधान कर्मयोगात्मक दृष्टि-कोण। व्यक्ति के लिये आवश्यक है कि लोक में रुचि ले और अपने कर्त्तव्य कर्म को बिना मोह के करता रहे। कर्त्तव्य और कर्म से पूर्ण सांसारिक जीवन उसका सबसे बड़ा आदर्श है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और उसे सुख भी मिलना चाहिए। परन्तु यदि वह कर्त्तव्य को छोड़ दे तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाएगा। यदि केवल कर्म में ही जुटा रहे तो एक भारवाही यंत्र बन जाएगा। जीवन के दोनों रूपों को अपने में ढालना सर्वोत्तम है, यह भारतीय विचार है। कृष्ण इसके सबसे बड़े उदाहरण हैं। जीवन में उन्होंने

सब सुखों को समान रूप से भोगा और समान रूप से अपने कर्म भी करते रहे। उनके जीवन में कर्म की प्रधानता थी। कृष्ण को कर्मयोगी कहा गया है। कर्म को जीवन में उन्होंने सबसे ऊँचा स्थान दिया है। उनका तो विचार था कि मानव को अधिकार केवल कर्म में है, फल पर नहीं। अपने मन और शरीर के बल से कर्म करना ही श्रेयस्कर है। व्यास ने कर्म की श्रेष्ठता के लिए कहा है—'जिसके पास दस उँगलियों वाले हाथ हैं उसे संसार में क्या चाहिए? वह कर्म में तत्पर रहकर सब कुछ प्राप्त कर सकता है।' इसको व्यास ने 'पाणिवाद' या हाथों का धर्म कहा है।

भारतीय संस्कृति ने दीर्घकालीन प्रयत्न से विज्ञान और शिल्प का भाण्डार भरा है। सब विषयों में असाधारण उन्नति की गई। अर्थ-शास्त्र या वार्त्ता शास्त्र, (इकोनोमिक्स), कला, स्थापत्य, गणित, वास्तु, निर्माणकौशल, संगीत, नाट्य आदि सभी विद्याओं की उन्नति हुई। जिस प्रकार वे ज्ञान और दर्शन में चरमोन्नति को पहुँचे, उसी प्रकार जीवन के विज्ञान (अं० पॉजिटिव साइन्सेज़) में भी उन्होंने कार्य किया। भारतीय संस्कृति की विशेषता है कि सब वस्तुओं में सौन्दर्य को स्थान दिया जाए। सौन्दर्य के प्रति स्नेह इस बात का प्रमाण है कि भारतीयों को जीवन से रुचि थी। वे लोग जीवन को हेय नहीं मानते थे।

भारतीय संस्कृति में केवल ज्ञान और कर्म युक्त जीवन का ही विधान नहीं है, बल्कि मानव के आनन्द-पक्ष को भी स्वीकार किया गया है । मनोरंजन और उल्लास के लिये तरह तरह के पर्व, उत्सव, आमोद, क्रीड़ा, विनोद, गोष्ठी समाज, नृत्य, संगीत, अभिनय, काव्य इत्यादि का भी खूब विकास हुआ। वैदिक समय से लेकर अशोक कालीन समाज और गुप्त युगीन गोष्ठी, तक, इनको शास्त्रीय रूप दिया गया है । गोष्ठा (क्लब) भा रतीय संस्कृति की अद्भुत वस्तु है। कला-गोष्ठी, विद्या-गोष्ठी, गीत-गोष्ठी, काव्य-गोष्ठी, नृत्य-गोष्ठी कथा-गोष्ठी आदि गोष्ठियाँ होती थीं, जिनमें नागरिक लोग साहित्य, रस, और कला का आनन्द लेते और तरह तरह तरह की चर्चा करते थे ।

भारतीय संस्कृति की एक विशेषता प्रकृति का प्रेम है। देश के अरण्य, वन, वृक्ष, वनस्पति, पुष्प आदि सब में बड़ी रुचि ली जाती थी । काव्यों में प्रकृति का वर्णन है और चित्रों में प्रकृति के सौंदर्य का सुन्दर अंकन किया गया है। प्रकृति से विरहित होकर जीवन का कोई चित्र और अंग नहीं रहा है। प्रकृति के इस तादात्म्य से भारतीयों में सौंदर्य के प्रति स्वस्थ भावना जाग्रत हुई और कर्म से थके हुए मानस को नई प्रेरणा भी मिली।

भारतीय संस्कृति में कथा, कहानी, और उपाख्यान द्वारा कठिन से कठिन विषय को सरलता से सुलभ किया गया। श्री विन्टरनित्ज़

कहा करते थे कि भारतीय संस्कृति की संसार को सबसे बड़ी देन पशु-पक्षियों की कहानियाँ हैं। जातक, पंचतंत्र, बृहत्कथा, कथा-सरित्सागर इत्यादि ग्रन्थ कथाओं और कहानियों के अद्भुत भंडार हैं। पंचतन्त्र इस प्रवृत्ति की सबसे बड़ी रचना है।

भारतीय संस्कृति का मूल आधार विश्व परक दृष्टिकोण (अं० वर्ल्डविज़न) है। भारतीयों का विश्वात्मा में अटूट विश्वास है। वे लोग सम्पूर्ण विश्व में उस आत्मा के प्रतिबिम्ब को देखते हैं। इस प्रकार जहां वे सृष्टि के और विश्व के विभिन्न रहस्यों का पता लगाते हैं वहाँ सब चराचर जीवों के प्रति एकता और दया का भाव भी उनके मन में है।

भारतीय संस्कृति का मंत्र था—माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। पृथिवी को माता का पद दिया गया है। उस पृथ्वी पर रहने वाला जनसमुदाय पृथिवी का पुत्र है। इस प्रकार भूमि से जो संबंध भारतीयों ने बनाया वह उनको सदैव ही अपनी मातृ-भूमि के लिये प्रेम की प्रेरणा देता रहा। वे अपनी मातृ-भूमि से प्रेम करते हैं, उसे देवता मानते हैं, नदी, पर्वत, सप्त महापुरी, देवताओं के पीठों के रूप में मातृ-भूमि के पवित्र स्वरूप की कल्पना करते हैं। सब पूजाओं का आधार पृथिवी को बनाते हैं। किन्तु अपनी भूमि को माता मानकर श्रद्धा करने वाले भारतीय किसी दूसरे देश से द्वेष नहीं करते। वे औरों की भी राष्ट्रीय भावनाओं का समादर करते हैं।

भारतीय संस्कृति का जब यहाँ विस्तार हुआ तो उनका पहला कार्य इस भूमि के साथ अपने संबंध को पूर्ण रूप से दृढ़ करना था। तीर्थयात्रा नदी और भूमि के कुंडों में स्नान आदि का धार्मिक महत्व बनाकर उन्होंने भूमि को अपना बना लिया। संपूर्ण देश के छोटे छोटे स्थान, नदी, नाले, पर्वत, कुंड, सरोवर इत्यादि से संबंध जोड़कर उन्होंने देश के प्रति अपने स्नेह और सम्मान का प्रदर्शन किया।

भारतीय संस्कृति में सदैव ही समन्वय का दृष्टि-कोण प्रधान रहा है। भारतीयों ने व्यक्तियों की चित्त-वृत्ति और स्वभावों के अनुसार तीन मार्ग—ज्ञान, कर्म, और उपासना का उपदेश किया है जिससे हर एक मानव अपने स्वभाव के अनुसार ही सिद्धि के मार्ग में आगे बढ़कर अपने व्यक्तित्व की पूर्णता प्राप्त कर सके। व्यक्ति की आध्यात्मिक और सामाजिक उन्नति में इन तीनों साधनाओं का बराबर महत्व है।

भारतीय संस्कृति की संसार को क्या बड़ी देन है? इस प्रश्न का उत्तर एक शब्द में देना चाहें तो कह सकते हैं कि समन्वय अर्थात् विरोधी विचारों और दृष्टियों का मेल करना, यही भारतीय विचार धारा की सबसे बड़ी विजय थी जिसका मूल्य आज के मानव समाज के लिये बढ़ा ही है, घटा नहीं। व्यक्ति के लिये

इस संस्कृति की सबसे बड़ी देन क्या थी ? इस प्रश्न का उत्तर है अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने अपने कल्याण के लिये मार्ग निश्चित करना । व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है । वह सामाजिक प्राणी होने के नाते औरों के हित की बात भी अवश्य सोचता है, किन्तु व्यक्ति के जीवन का सबसे ऊँचा कर्तव्य और आदर्श आत्म-ज्ञान ही है, अर्थात् अपने आपको जान लेना। इस आत्म-ज्ञान के लिये संसार को तुच्छ मानना भूल है । भारतवर्ष का सच्चा दृष्टि-कोण भुक्ति और मुक्ति का मेल है। पुराणों में इसे भागवती दृष्टि कहा गया है । इसे ही प्राचीन समय में वैशेषिक दर्शन में यों कहा गया था—'जिससे इस लोक में कल्याण और परलोक में मोक्ष मिले वही धर्म है।' भारतीय संस्कृति निश्चयेन धर्म प्रधान संस्कृति है जिसमें विश्व और जीवन को धारण करने वाले समस्त नियमों की सत्ता धर्म है ।

भारतीय संस्कृति की समय-सारिणी

(१)	सिंधु सभ्यता प्रधान नगर—मोहेंजोदड़ो, हरप्पा	३५००—२२५० ई० पू०
(२)	आर्यसभ्यता का विस्तार, वैदिक संहिताएँ	३०००—२००० ई० पू०
(३)	उत्तर वैदिक युग ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्	२०००—१००० ई० पू०
(४)	महाजनपद युग श्रौत-धर्म-गृह्य सूत्रयुग, रामायण महाभारत, नाटक और काव्यों का आरंभ, उपाख्यान साहित्य का आरंभ, दर्शनों का सूत्रबद्धसाहित्य, पाणिनि	१०००-५०० ई० पू०
(५)	मगध में साम्राज्य की स्थापना, राजधानी—पहले राजगृह फिर पाटलिपुत्र (पटना)	
(अ)	शिशुनाग और नन्दवंश	६५०—३२५ ई० पू०
	गौतमबुद्ध, बौद्ध धर्म	५६३—४८३ ई० पू०
	महावीर, जैनधर्म	५५८—४८५ ई० पू०

साहित्य—बौद्ध पाली-साहित्य, जातक कथाएँ, जैनों का अर्धमागधी अंग साहित्य

(इ) मौर्य साम्राज्य — ३२२–१८५ ई० पू०

चन्द्रगुप्त, — ३२२–२९८ ई० पू०
महामंत्री चाणक्य का युग
अशोक — २७३–२३२ ई० पू०
साहित्य—अर्थशास्त्र की रचना, कात्यायन के वार्तिक, दर्शनों का सूत्र-साहित्य परिपक्व
कला— आरंभिक मूर्तियाँ, परखम (मथुरा) और पटना की यक्षमूर्तियाँ, अशोकस्तंभ, अभिलेख, स्तूप एवं प्रारंभिक गुफा विहार।

(उ) मध्यप्रदेश में शुंग, कण्व वंश — १८५–२८ ई० पू०

दक्षिण में सातवाहन वंश का महान् साम्राज्य — ई० पू० २२०–२२० ईस्वी
साहित्य—पतंजलि का महाभाष्य, पुराण साहित्य की वृद्धि, भास के नाटक
कला—भारहुत और साँची के स्तूप

(६) उत्तर पश्चिम में, गंधार और वाहीक के विदेशी राज्य

(अ) सिकन्दर का हमला — ३२७–३२५ ई० पू०
(इ) गंधार और वाहीक के यवन — २००–५० ई० पू०
(उ) पश्चिमी व पश्चिमोत्तर भारत के पह्लव और शकराज्य — ६० ई० पू०

(ए) कुषाण राजवंश — १८-२५० ईस्वी

सम्राट् कनिष्क, — ७८-१२० ईस्वी

मथुरा कला का उत्थान, बुद्धमूर्ति का निर्माण, गन्धारकला, अमरावती के स्तूप, मध्यएशिया, चीन और पूर्वी द्वीपसमूह में भारतीय संस्कृति का प्रवेश व प्रसार,

(७) गुप्त युग — ३००-६५० ईस्वी

(अ) गुप्त राजवंश — ३२०-४९० ईस्वी

फाह्यान की भारत यात्रा — ४०५-४११ ईस्वी

हूण आक्रमण — ४५५ ईस्वी

(आ) हर्ष, राजधानी कन्नौज — ६०६-६४७ ईस्वी

युवान्-च्वाङ् की भारत यात्रा — ६२६-६४५ ईस्वी

(७) साहित्य—कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त इत्यादि
कला—भारतीय कला का स्वर्णयुग, देवगढ़, भुमरा, साँची और भितरगाँव के मंदिर, सारनाथ और मथुरा की बुद्ध मूर्तियाँ, अजन्ता, बाघ, सितन्नवासल के भित्ति-चित्र, मेहरौली का लौहस्तंभ व सुल्तानपुर की धातुमूर्ति।

बृहत्तर भारत का पूर्ण विकास (भारत का सांस्कृतिक साम्राज्य)।

(८) १-मैत्रक राजवंश — ६००-८०० ईस्वी

राजधानी—वलभी

साहित्य—माघ

२–चालुक्य राजवंश — ६००–७५० ईस्वी

राजधानी—वातापिपुर (बादामी), आर्यपुर (ऐहोले)

पुलकेशिन — ६०९–६४२ ईस्वी

विक्रमादित्य द्वितीय — ७३३–७४६ ईस्वी

३–सुदूर दक्षिण का पल्लव राजवंश — ६००–८०० ईस्वी

राजधानी–काञ्ची

महेन्द्रवर्मन — ६००–६३० ईस्वी

नृसिंहवर्मन — ६३०–६६८ ईस्वी

कला—महाबलिपुरम् के रथ

(६) राजपूत युग—

१–कन्नौज के राजवंश, गुर्जर प्रतिहार — ७६०–१००० ईस्वी

यशोवर्मा

मिहिर भोज — ८३६–८९० ईस्वी

महेन्द्रपाल — ८९१–९०७ ईस्वी

२–काश्मीर का कर्कोटक राजवंश

राजधानी–श्रीनगर

ललितादित्य मुक्तापीड़ — ७३३–७६९ ईस्वी

३–काश्मीर का उत्पल राजवंश

अवन्तिवर्मा — ८५५–८८३ ईस्वी

शंकरवर्मा — ८८३–९०२ ईस्वी

४–पाल राजवंश (मगध व बंगाल), सेन वंश — ७४३–१२०० ईस्वी

विक्रमशिला व उदन्तपुरी के विश्वविद्यालय

कला—धातु की बुद्ध व बोधिसत्त्व प्रतिमाएँ, तांत्रिक मूर्तियाँ	
५-कन्नौज के गहड़वाल	१०२०-१२०६ ईस्वी
गोविन्दचन्द्र देव	१११४-११५४ ईस्वी
जयचन्द्र	
६-चौहान राजवंश	
राजधानी-शाकम्भर, अजमेर, दिल्ली	
बीसलदेव (विग्रहराज)	११३०-११६३ ईस्वी
पृथ्वीराज	११७६-९२ ईस्वी
७-गुजरात के सोलंकी	९६०-११९७ ईस्वी
राजधानी—अनहिलवाड़ा (पाटन)	
सिद्धराज जयसिंह	१०९३-११४३ ईस्वी
कुमारपाल	११४२-११७३ ईस्वी
कला—आबू, गिरनार और श ंजय के जैन मन्दिर, सोमनाथ का शिव मन्दिर व मोढेरा का सूर्यमन्दिर	
८-मालवा के परमार	९७०-१३०५ ईस्वी
राजधानी—धारानगरी	
भोज	१००९-१०५४ ईस्वी
उदयादित्य	१०७५
उदयपुर का उदयेश्वर मंदिर	
९-शाही राजवंश (पश्चिमोत्तर प्रदेश)	८५०-१००६ ईस्वी
राजधानी-काबुल, उद्भांडपुर (ओहिंद)	
जयपाल	९६५-१००१ ईस्वी

आनन्दपाल	१००१–१०१३ ईस्वी
त्रिलोचनपाल	१०१३–२०२१ ईस्वी
१०–जझौती (बुन्देलखंड) के चंदेल	
राजधानी—कालिंजर, महोबा, खजुराहो	
यशोवर्मा	९२०–९५०
कीर्तिवर्मा	१०५४–१०९९
कला—खजुराहो के महान् मन्दिर	
११–चेदि (महाकोशल) के कलचुरि	
राजधानी—त्रिपुरी (जबलपुरके पास)	
गांगेयदेव	१०१५–१०४१ ईस्वी
कर्ण	१०४१–१०७३ ईस्वी
१२–उड़ीसा का गंग राजवंश	१०७६–१५८६ ईस्वी
राजधानी—जाजपुर	
अनंतवर्मा चोड गंग	१०७६–११४८ ईस्वी
नरसिंहदेव	११३८–१२६४ ईस्वी
कला—पुरीका जगन्नाथ मन्दिर, भुवनेश्वर के लिंगराज, राजारानी और मुक्तेश्वर मन्दिर, कोणार्क का सूर्यमन्दिर	
(१०) दक्षिण के राज्य:—	
१–राष्ट्रकूट वंश	७५७–९७३ ईस्वी
राजधानी मान्यखेट	
कला-एलोरा का कैलाश मंदिर, एलीफेण्टा की महेशमूर्ति	७६० ईस्वी

२—चालुक्य राजवंश	९७३-११५६ ईस्वी
राजधानी—मान्यखेट व कल्याणी	
विक्रमांकदेव	१०७६-११२५ ईस्वी
धर्म—बासव का लिंगायत सम्प्रदाय	
३—मैसूर का गंग राजवंश	
कला—श्रवणबेलगोला में गोम्मटेश्वर	
की संसार में सबसे बड़ी मूर्ति	९८३ ईस्वी
४—मैसूर के होयसल	१०२२-१३४३ ईस्वी
राजधानी—बेलापुर (बेलूर),	
द्वारसमुद्र (हालेबिद)	
कला—बेलूर और हालेबिद के मन्दिर	
५-देवगिरि के यादव	१०००-१३१८ ईस्वी
(११) सुदूर दक्षिण के राज्य :—	
१-चोल राजवंश	९०७-१०५३ ईस्वी
राजधानी—तंजोर	
राजराज प्रथम	९८५-१०१६ ईस्वी
राजेन्द्र प्रथम	१०१२-१०४४ ईस्वी
कला—तंजोर का बृहदीश्वर शिव मन्दिर	
नटराज शिव की धातुमूर्ति	
२-पाण्ड्य राजवंश	१२२५—
राजधानी—मदुरा	
जटावर्मा सुन्दर पाण्ड्य	१२५१-१२७४ ईस्वी
मारवर्मा कुलशेखर	१२७५-१३११ ईस्वी

३–आन्ध्र के काकतीय—

राजधानी—एकशिला या वारंगल

गणपति — १२००–१२६० ईस्वी

रानी रुद्रम्मा — १२६०–१२९१ ईस्वी

प्रतापरुद्रदेव — १०६१–१३२३ ईस्वी

(१२) देहली में मुस्लिम सल्तनत, — १२०६–१५१६ ईस्वी

बंगाल, गुजरात और दक्षिण (बहमनी) के मुस्लिम राज्य

(१३) १-मुग़ल काल — १५२६-१७०७ ईस्वी

बाबर — १५२६ १५३० ईस्वी

हुमायूँ — १५३०–१५४० ईस्वी

अकबर — १५५६–१६०५ ईस्वी

जहाँगीर — १६०५–१५२७ ईस्वी

शाहजहाँ — १६२८–१६५८ ईस्वी

औरङ्गजेब — १६५८--१७०७ ईस्वी

२--शेरशाह सूर — १६४०--१६४५ ईस्वी

कला—देहली, आगरा, फ़तहपुर सीकरी, इलाहाबाद व लाहौर के मुग़ल भवन, ताजमहल।

मुग़ल चित्र शैली— (१) अकबर, (२) जहाँगीर, (३) शाहजहाँ।